।। श्रीमते रामानुजाय नमः ।।

भावकुसुमाञ्जलि

(भाषानुवाद सहित)

• रचयिता •

पं. श्री विष्वक्सेनाचार्य

(डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय)

प्रकाशक :

पं. दामोदर पाठक, व्याकरणाचार्य

संस्कृत शिक्षक : पश्चिम बंगाल

मूल निवास– बमनडीहा, पो. निंगनी

जि. लोहरदगा (झारखण्ड)

पिन – 835302

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

श्रीकृष्णजन्माष्टमी, 24 अगस्त 2008

न्योछावर : 50/– (पचास रुपये)

मुद्रण संयोजन :

श्री हरिनाम प्रेस

बाग बुन्देला, लोई बाजार, वृन्दावन

फोन : 0565–2442415

◆ विषयानुक्रमणिका ◆

प्रकाशकीय ५
अवतारिका ७
विषय संक्षेप १०
अहंकार १०
ममता १२
सन्निकर्ष १३
दम्भ १३
ईर्ष्या, असूया और मत्सर १५
वित्तदोष १७
धन में पाप पुण्य और उनका संक्रमण १७
समता १८
समाधान २०
श्रद्धा २०
प्रार्थना २१
संकल्प २२
ध्यान २२
मानस पूजन २२
भावकुसुमाञ्जलिः २४
अथ अहंकार गुच्छः २५
अथ ममता गुच्छः ३०
अथ सन्निकर्ष गुच्छः ३७
अथ दम्भ गुच्छः ४२

अर्थ ईर्ष्या गुच्छः ४६
अथ असूया गुच्छः ५२
अथ मत्सर गुच्छः ५५
अथ वित्तदोष गुच्छः ६०
अथ समता गुच्छः ६४
अथ समाधान गुच्छः ७१
अथ श्रद्धा गुच्छः ७६
अथ प्रार्थना गुच्छः ८१
अथ संकल्प गुच्छः ८८
अथ ध्यानपद्धतिः गुच्छः ९४
अथ मानसार्चापद्धतिः १००
अनुबन्ध : परमार्थ प्रतिष्ठानम् ११३
अवतारिका ११३
परमार्थ प्रतिष्ठानम् ११७
लेखक की अन्य कृतियाँ १२४

प्रकाशकीय

मानव जीवन को सुगठित सुरक्षित और सुव्यवस्थित करने में आत्मनिरीक्षण की पहली भूमिका होती है। जिन लक्षणों में हम स्वयं को जान सकते हैं। उनसे दूसरों को भी जानकर उनका उपकार या उनसे स्वयं की रक्षा कर सकते हैं। स्वयं को या दूसरों को समझना आत्मनिरीक्षण ही है। शुद्ध आत्मा दृष्टि का विषय नहीं होता, वह तो द्रष्टा होता है। उसके प्राकृतिक धर्म जो चित्त में होते हैं वे ही दृश्य होते हैं। चेतन अहंकारवश उन्हें अपने में मानता है, इससे प्राकृतिक धर्म मान, दम्भ, हिंसा, कुटिलता आदि का दर्शन ही वास्तविक आत्मनिरीक्षण है।

यह निरीक्षण ही मानव के प्रथम मूल्य के रूप में माना जाता है। इसके बाद ही जाति, कुल, शील, वित्त, विभव आदि पदार्थ मूल्यांकन के माध्यम बनते हैं। कोई भी राष्ट्र मूल्यवान् मानवों से ही उत्कर्ष प्राप्त करता है। व्यक्तियों का उत्कर्ष ही सामूहिक रूप से राष्ट्रिय उत्कर्ष कहा जाता है। आत्मनिरीक्षण द्वारा राष्ट्रिय अभ्युदय का ठोस उपाय बना यह मूल्यवान् प्रौढ निबन्ध एक राष्ट्रिय धरोहर है। स्वयं को भूल कर हम स्वयम् अराष्ट्रिय हो जाते हैं। तब अपने अभ्युदय के उपायों को स्वयं रौंदते चलते हैं, तब राष्ट्र का स्तर विश्व में पिछड़ने लगता है और उसका परिणाम भारत की निकट अतीत और वर्तमान विध्वंसात्मक अवस्थाओं के रूप में सामने आता है।

आत्मानं चेद्विजानीयाद् अयमस्मीति पूरुषः।
किमर्थं कस्य वा हेतोः शरीरमनु संज्वरेत्।।

यह वेदान्त वचन केवल मुमुक्षुओं के हित में नहीं है बल्कि समान रूप से अभ्युदयपथ का भी प्रकाशस्तम्भ है। भारत स्वतन्त्र हुआ आत्मनिरीक्षण से, उक्त गुण का लोप होने से ही पराजित रहा है और अभी अभ्युदय में पिछड़ रहा है, आत्मनिरीक्षण की कमी से। अपने पाठ्यग्रन्थों से हम बहुत दूर जा बैठे हैं। हमारी शिक्षानीति बड़ी चपल हो गयी है। चपलता के साथ धैर्य नहीं होता और धैर्य के अभाव में अभ्युदय कहाँ ? हमने विदेशी सत्ता के भूतों को अपने सिर से उतार दिया किन्तु साथ ही स्वार्थ पिशाच को आदर से सिर चढ़ा लिया। तब हम मानव कहाँ रह गये ? इसी से हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख,

ईसाई और अगड़ों पिछड़ों के भेद हमारे ऊपर हावी हो गये हैं। विघटन के अंकुर तेजी से पनप रहे हैं। एकता का वह शाश्वत मन्त्र हम पढ़ नहीं पाते जो प्रत्येक भारतीय का सहज कण्ठहार होना चाहिए।

वह मन्त्र इस ग्रन्थ के अनुबन्धन रूप में अन्त में जुड़ा है। यह एकता का मन्त्र सूचित करता है कि स्वतन्त्र रहने योग्य देश भारत ही है, क्योंकि ऐसा मनोभाव अत्यन्त दुर्लभ होता है। यह देश जब स्वतन्त्र होता है तब सारे विश्व का मार्गदर्शक होता है। अभी तो यह विश्व का मुखापेक्षी बना है।

अस्तु, मैं कोई धनपति नहीं हूँ, और ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित करके सारे देश में वितरित और अंशतः भी पाठ्य रूप में निर्धारित कराकर प्रचारित करने की क्षमता मुझमें नहीं है फिर भी हमारे गुरुदेव हमसे भी आर्थिक स्थिति में पीछे हैं और स्वयं लिखकर अपने सीमित धन से भी इसे प्रकाशित करने को उद्यत थे, यह देख कर मैंने उनसे स्वयं प्रकाशित करने की अनुमति माँगी, तब उन्होंने आशीर्वचनों के साथ राष्ट्रहित में अनुमति दे दी। आगे हमारे उदार पाठक इस ग्रन्थरत्न को प्रचार–प्रसार में लाने के लिए वाञ्छित उद्यम करेंगे और स्वयं को अधिकाधिक प्रकाश में लायेंगे। यह अपेक्षा शायद सर्वान्तर्यामी की भी है।

– दामोदर पाठक
वैयाकरण

अवतारिका

विधाता ने मानव को देवत्व प्राप्त करने योग्य मन इन्द्रियों से जोड़ा। सहायता के लिए नित्य निर्दोष विशाल वाङ्मय भी दिया। फिर भी देखा जाता है कि मानव पशुओं की ही भाँति खाने, पीने, सोने की धुन में सारा जीवन बिता देता है। जो कुछ लोग पढ़ते हैं वे पढ़ाई को भी खानपान का ही उपकरण बना कर रख लेते हैं। शिक्षा जीवन स्तर उठाने के लिए होनी चाहिए। किन्तु ऐसा हो नहीं पाता। बल्कि बाहरी उपकरणों से जीवन स्तर आँक लिया जाता है। जब कि बाहरी उपकरण केवल श्वास प्रश्वास के पूरक होते हैं।

प्राणी का वास्तविक जीवन उसकी भावना होता है। उसी से उसके पूर्व जीवन और भावी जीवन का स्तर जाना जाता है। भविष्य का निर्माण उसी से होता है। विधाता की बहुत बड़ी कृपा है कि हमारी भावना को उन्होंने परिणामी बना दिया है, साथ ही परिणामों को हमारे भरोसे छोड़ दिया है। हम चाहें तो अपनी भावना को विकसित कर लें, अन्यथा उत्तरोत्तर संकुचित और निन्दित होते रहने दें। जब हम अर्थ काम की स्पृहा से ही बँधे रहेंगे तो भावना विकसित नहीं हो पायेगी। यदि अर्थकाम के मूल धर्म पर ध्यान दें, अपने धर्म के वर्तमान स्तर पर गौर करें और उसे भी विकसित करने के उपाय करने लग जायें, जीवन को औरों की भाँति अति सीमित न समझे रहें तो सम्भव है कि अगले अनेक जन्मों के सुधार की गारंटी घंटों में ही प्राप्त कर लें। अपने को परिणामी मिट्टी के पुतले से अलग नित्य ज्ञानानन्दमय मान लेने की आवश्यकता है। यह मान्यता कुछ भाग्यवानों की कुछ घण्टों में ही बन सकती है। इस मान्यता के बाद जीवन स्तर उठाने के बहुत से उपाय होते हैं और चेतन अनजाने ही कभी स्वयं को देव रूप में पा लेता है।

यह साधना भारत भूमि पर ही सम्भव है। अन्य भूमियाँ इसके उपयुक्त नहीं है। अवतार यहीं होते हैं, सन्त यहीं मिलते हैं, नये अधूरे धर्मों का यदि कुछ आदर है तो यहीं है। अन्य भूमियों पर यदि कोई धर्म है तो वह भी राजनीति का या जीविका का साधन मात्र है। वह साध्य और फलद नहीं

माना जाता। ईश्वर की सन्तुष्टि का जो फल वहाँ माना जाता है वह भी तर्क विरुद्ध होने से विवेकियों द्वारा मान्य नहीं है। इसीसे विदेशों में सेक्युलरवाद (धर्मनिरपेक्षता) का जन्म हुआ है जिसका अन्धानुकरण वर्तमान भारतीय राजनीति कर रही है। समाज की रक्षा धर्म ही करता है। विशुद्ध राजनीति वास्तविक धर्म का एक छोटा सा पूरक है। यह बात कुशिक्षाग्रस्त भारतीय राजनेता अभी तक नहीं समझ पाये हैं जिससे अनेक अनर्थ जारी हैं। धर्म की अवहेलना कर रहे अनीश्वरवादी भी नैतिकता की बात करते हैं, समाज में सच्चाई और नीति आदि शब्दों से धर्म की आवश्यकता मानते हैं। नीति का अर्थ गति होता है, वह गति ईश्वरीय आदेशों (कानूनों) का पालन ही है। वकीलों की किताबों में लिखे सारे कानून ईश्वरीय आदेशों के ही आधार पर बने हैं। उनका हृदय से पालन धर्मनिष्ठा ही है, वचन मात्र से, केवल दिखावे का पालन दम्भ है। दम्भ आदि सारी बुराइयाँ जो जीवन को उत्तरोत्तर बिगाड़ती जाती हैं, स्वरूप को भूलने से ही उत्पन्न होती हैं। धर्मनिरपेक्षता दूसरे शब्दों में आत्मनिरपेक्षता है और यह पूरे पागलपन से तनिक भी कम नहीं है। धर्म ही चेतन के लिए सन्मार्ग पर चलने की स्थिति कायम रखता है। धर्म के अभाव में चेतन का प्राचीन अधर्म सक्रिय हो जाता है, तब उत्तरोत्तर अधोगति होती जाती है। कोई व्यक्ति धर्म, अधर्म न समझे, न माने तो दोनों का अभाव नहीं हो जाता। उल्लुओं के दिन रात न मानने से दिनरात का क्रम बन्द नहीं हो जाता। सारे धर्मों का मूल है आत्मविद्या। जो धर्म आत्मविद्या से जितना मेल खाता है वह उतना ही कल्याणमय है। बाकी सारे धर्म ज्ञान की कमी से अधूरे, विफल या अल्पकाल वाले हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में आत्मविद्याओं के अनुसार चेतन को नित्य ज्ञानानन्दमय माना गया है। स्वरूप भूलने से पहला दोष अहंकार होता है, वही ममता लाता है, ममता से भी अहंकार बढ़ता है। बढ़ा हुआ अहंकार, दम्भ, दर्प आदि नाना दोष उत्पन्न करके नाना अपराध कराता रहता है। यहाँ मानस विकारों को कुछ विस्तार से समझाने का प्रयत्न हुआ है। इससे दोषों के मिटाने के उपाय होते हैं। बुरे संकल्पों से अपराध बढ़ते हैं और भले संकल्पों से दोषों का नाश और मंगल की वृद्धि होती है। सुधरा हुआ चित्त ज्ञानानन्दमय नित्य एकाकार अपना स्वरूप नहीं भूलता। वह अपने नियामक धारक सुहृद शेषी परमात्मा के अनुग्रह भी नहीं भूलता, बल्कि उनके अनुग्रहों का सुदूर जाल (नेटवर्क) भी समझता हुआ वह सतत आनन्द में रहता है। वही भक्ति है, भक्ति का ही चरम परिणाम प्रपत्ति है जो मोक्षरूप होता हुआ पूर्ण ज्ञानाविर्भाव रूप वास्तव मोक्ष

का अव्यवहित साधन है। अति सूक्ष्म अपने मानस विकार क्रमों को समझने और उसमें सुधार लाने की इच्छा करोड़ों में से किसी एक भाग्यशाली की होती होगी। वैसे व्यक्ति के लिए ही इस निबन्ध की पूरी उपयोगिता है किन्तु थोड़ी बहुत उपयोगिता बहुतों के लिए है। तालाब खुदा है, जल स्वच्छ है, इसकी प्रतिष्ठा हो चुकी है। आकाश में पक्षी उड़ते हैं, अपनी प्यास बुझाने को उतरेंगे, यह निर्विवाद है। किन्तु यहाँ कोई वेदान्तविज्ञ पण्डित भी आ सकता है, स्नान करके सूर्यनारायण को अर्घ्य देकर उपस्थान कर सकता है। ''योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि'' ऐसा अनुसन्धान भी कर सकता है, यहाँ तक आशा देश के वर्तमान परिवेश में पूरी होना कठिन ही है, फिर भी जिसने सरोवर की सृष्टि की वह अपने शुद्ध संकल्प का फल पायेगा ही।

ईश्वर की भी सृष्टि विरल उपयोग पा रही,
गंगा की धारा खारे में मिली जा रही।
उनको यह रचना अच्छी क्यों नहीं लगेगी,
निग्रह की भावना दूर क्यों नहीं भगेगी ?

— लेखक

विषय संक्षेप

पाठकों की सुविधा के लिए ग्रन्थ के विषयों का संक्षेप यहाँ प्रस्तुत है। इससे मूल श्लोक जल्दी समझ में आयेंगे। यहाँ सर्व प्रथम अहंकार तत्त्व का निरूपण है।

• अहंकार •

किसी भी संसारी चेतन की पहली पहचान उसका अहंकार होता है। यह पहचान उसके अपने लिए होती है, समझदार दूसरे लोगों के लिए होती है, और उसके सारे शुभाशुभ कर्मों के फलों और अगले जन्मों के नियामक देवगण एवं परमात्मा के लिए भी होती है। यही संसार के लम्बे चौड़े राजमार्ग पर निःशंक चलाता है, कभी जंगली पथरीली कंटीली पगडंडियों पर भी भटकाता है। यही शत्रुओं को मित्र और मित्रों को शत्रु बना लेता है। यही हजारों के बीच रहते हुए भी अपनी अलग पहचान लिये चलते रहने का सूत्र होता है। यही किसी गरीब किसान को राष्ट्रपति बना देता है और किसी सम्पन्न घर के युवक को किसी छोटे व्यक्ति का छोटा सेवक बना कर छोड़ देता है। यही किसी को वेदादि शास्त्रों के सतत परिशीलन का व्यसनी बनाता है, यही दूसरे को उनकी सारी मान्यताओं के खण्डन से ख्याति दिलाता है। यही सिद्ध योगी बनाता है, यही शराब के नशे में जीवन खराब कर देता है। अनन्त विस्तार वाले चौदह भुवनों में अनन्त ऊँची, नीची सारी अवस्थाओं तक पहुँचाना, कायम रखना और आगे बढ़ाना इसी की करामात होती है। जन्म के बाद संसारी चेतनों का प्रथम परिचय अपने अहंकार से होता है। जन्म लेते ही वह स्वयं को मानव शिशु या पशुपक्षी शावक के रूप में स्वीकार करता है, यह पाठ वह दूसरों से नहीं पढ़ता। तभी वह अपने आहार और क्रीड़ा के उपकरणों से जुड़ता है। अहंकार के अभाव में अपने आहार की पहचान और उसके ग्रहण की प्रवृत्ति नहीं हो पाती। जीवन की छोटी बड़ी सारी गतिविधियाँ चेतन के अहंकार की बनावट पर निर्भर होती है।

यदि हम अहंकार को शब्दों में उतारना चाहें तो कहना होगा—''मैं ऐसा अमुक हूँ'' इन चार पदों में मैं का अर्थ नित्य ज्ञानानन्दमय चेतन तत्त्व है, और

हूँ का अर्थ देश काल सम्बन्ध होता है जो देह के द्वारा ही सम्भव होता है, शुद्ध चेतन तत्त्व का देशकाल सम्बन्ध नहीं बनता। मैं का अर्थ सदा एकाकार रहता है किन्तु ''ऐसा'' का बदलाव होता ही रहता है तथा अमुक् का अर्थ नित्य जाति से बँधा होने से प्रायः नहीं बदलता। यह बदलाव माँ के गर्भ में ज्यादा होता है और जीवन की प्रगति एवं पतन से भी होता है। यह बदलाव ही चेतनों का संसार है जो ज्यादातर अज्ञान से होता है। 'ऐसा' का अर्थ यदि नित्य ज्ञानानन्दमय माना जाये तो सही होगा किन्तु उससे संसार नहीं होगा। दूसरे सारे अर्थ प्रकृति के केवल विकार होते हैं जो चेतन के लिए केवल अनर्थ होते हैं। चेतन को प्रकृति के विकारों से न कोई लाभ होता है न हानि होती है फिर भी लाभ–हानि की कल्पनायें होती रहती हैं, इसीसे संसार को काल्पनिक कहते हैं। तत्त्व दर्शन से कल्पनायें हटती हैं, संसार छूटता है।

जैसे बाल्य अवस्था में बनने वाले कुछ सूक्ष्म धातुओं के अधीन सतत प्रसन्नता, अनुकरण की प्रवृत्ति और क्रियाओं में रुझान बना रहता है और उनका निर्माण घटने के क्रम से उक्त चेष्टायें भी घटती हैं, एवं कैशोर पार होने पर चरम धातु की मात्रा के अनुपात से काम की प्रवृत्ति बनती, बढ़ती, घटती है वैसे ही मूल प्रकृति के तीसरे विकार अहंकार नामक तत्त्व के शरीर में कायम रहने से परिणामी शरीर में भी नित्य आनन्दमय चेतन की अहमबुद्धि होती है। उससे पहले उक्त मूलप्रकृति के दूसरे विकार महत् नामक तत्त्व के शरीर में उपस्थित रहने से चेतन स्वयं को वास्तव अति सूक्ष्म रूप में मानना भूल कर बड़े आकार का मानने लगता है जिससे अति सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर गजराज पर्यन्त विशाल शरीर में और उससे भी विशाल वृक्ष पर्वत, नदी, समुद्र आदि में आसानी से अहम् बुद्धि हो जाती है। अनन्त स्थूल सूक्ष्म शरीरों में शुद्ध ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्व का क्रम से प्रवेश और निकास उसके प्राचीन कर्म कराते हैं। ईश्वरीय नित्य संकल्प सारे कारणों का कारण है। वही जड़ों में चैतन्य का काम करता रहता है। जैसे गुरुओं के उपदेश से शिशुओं की चपलता नियन्त्रित होती है, नीति के उपदेश से राग, द्वेष, मोह, मद आदि की प्रवृत्तियाँ रुकती हैं वैसे ही सदाचार्यों के उपदेश से अहम् बुद्धि देह से हटकर नित्य चैतन्यमय आत्मतत्त्व में टिक जाती है। अवश्य ही उस अवस्था में भी महत् तत्त्व और अहंकार नामक दोनों धातु अपना–अपना प्रभाव जारी रखते हैं इससे तत्त्वबोध कायम रखना मुश्किल होता है, योगाभ्यास आवश्यक लगता है। उक्त दोनों तत्त्व योग की अवस्था में भी प्रमाद उत्पन्न करके योगी को संसार में लौटा लेते हैं, बाऐं, दायें हाथों की भाँति तत्वदर्शन और ध्यान

के चिरप्रयत्न महापथ में प्रगति करा देते हैं। यह रहस्य किसी सदाचार्य से समझने योग्य है।

अहंकार अजगर बड़ा, जीव सभी यह खाय।
इसमें रहलो दूर यह, बिन खाये मर जाय।।

• ममता •

अहंकार से बाहरी अर्थों के प्रति अनुकूल और प्रतिकूल के भाव बनते हैं। तब अपने अनुकूल अर्थों के प्रति क्रम से संग, स्पृहा एवं प्राप्ति के वैध–अवैध उपाय होते हैं। प्राप्ति से ममता दृढ़ होती है और सारे लोकव्यवहार चलते हैं किन्तु शुद्ध आत्मा को किसी भी प्राकृतिक वस्तु से वास्तव में कोई लाभ, हानि नहीं होती। यदि व्यावहारिक कुछ प्रभाव केवल चित्त पर होता है तो वह भी प्रारब्ध के अधीन होने से प्रारब्ध ही सारा संघटन, विघटन करा लेता है। उसमें पुरुष का उद्यम प्रारब्ध के अनुसार सफल या विफल होता है। इसे समझने के लिए बहुत से तर्क प्रमाण उदाहरण होंगे। शिशुओं के, किशोरों के, युवाओं के, अधेड़ों के और वयस्कों के, ममता बिन्दुओं के आने जाने का क्रम सूचित करता है कि ममता क्षणिक होती है, वह भी अज्ञान से। तब विश्व में आस्था का आश्रय है ही क्या ? किन्तु तत्त्व दृष्टि से यदि अहंकार ही भ्रम है जो स्वयं असंख्य नये अहंकार ममकार रूप, भ्रम पैदा करता रहता है तो ममताओं का क्या कहना है। ममता व्यवहार में मान्य हो सकती है किन्तु उसका कोई ठोस आधार नहीं होता। ममता के आधार अहंकार के मिथ्या होने से बाकी आधार स्वयं अनायास मिथ्या ठहर जाते हैं। ममता के मूल अज्ञान से आसक्ति बढती है। और उससे ममता घनी होती है। उससे छोटे, बड़े असंख्य अपराध होते रहते हैं, संसार बढ़ता है, नाना प्रकार के दुःख तो होते ही हैं। उस अवस्था में संसार छुड़ाने वाले शास्त्र भी अच्छे नहीं लगते। इससे ममता की मीमांसा मनीषीजन करते ही रहते हैं।

प्रियवियोग की अवस्था में विलाप, प्रलाप, क्रन्दन, चीत्कार, मूर्च्छा और मृत्यु ममता के घनत्व की अवस्थायें बतलाते हैं। विषाद, अनुत्साह, निर्वेद, अप्रतिभा, मुखमालिन्य, गम्भीरता और तटस्थता ममता के दुर्बलत्व की अवस्थायें बतलाते हैं। भाग्यशाली सज्जन अपने सारे सम्बन्धों की समीक्षा करते रहते हैं, झूठी ममता के घातक हमलों से बचते हैं, कभी मुक्ति का मार्ग भी पकड़ लेते हैं।

बच्चे ममता बान्धते, लाल खिलौने देख,
ज्ञान हुए ममता कहाँ, निर्गुण निज को लेख।

• सन्निकर्ष •

वस्तुओं और व्यक्तियों का कुछ दूर तक प्रभाव फैलता रहता है। प्राणियों का मन व इन्द्रियाँ सारे प्रभाव लेते रहते हैं। अज्ञात अवस्था में भी वस्तुओं का प्रभाव होता है। ताबीज में भरा हुआ अज्ञात कोई द्रव्य धारक बालक, स्त्री या अन्य रोगी को प्रभावित करता है। धरती में गड़े शुभ अशुभ द्रव्य पास वालों को प्रभावित करते हैं। केवल धरती भी शुभ या अशुभ होती है, पास पहुँचे लोगों पर अपने अनुरूप प्रभाव डालती है। हमारे ऊपर चारों ओर से सदा शुभ, अशुभ प्रभाव अनजाने भी पड़ते रहते हैं। अपना भी एक प्रभाव होता है जो बाहरी प्रभावों को सफल, विफल न्यून अधिक करता रहता है। परमात्मा का प्रभाव सर्वोपरि होता है, यदि हम उन्हें याद रखें तो सारे बुरे प्रभाव नष्ट हों और अच्छे प्रभाव बढ़ें। इसीसे अनेक पुराने नये स्तोत्र पाठ प्रयोग में आते और सफल होते हैं। भगवान् से हमारा नित्य सन्निकर्ष बना ही है, उसका अच्छा प्रभाव मिल भी रहा है। यदि हम सदाचार्यों से सद्ग्रन्थों के अनुसार उसे समझ लें और न भूलें तो जीवन धन्य हो जाये, दुःख भूल जायें, अपराध हो ही नहीं, संसार धीरे–धीरे स्वतः छूट जाये, परम पद सुलभ हो जाये। किन्तु ऐसा हो नहीं पाता, संसार वासना के घेरे से हमारा मन बाहर चल नहीं पाता। शास्त्रीय विवेक को हम महत्त्व नहीं देते। आत्मकल्याण के पक्ष में जो भी तर्क व प्रमाण हैं उनकी हम अनदेखी ही करते हैं। कुशिक्षा ग्रस्त स्वतन्त्र भारत में सदाचार्य दुर्लभ हो गये हैं। कहीं मिलने पर भी जिज्ञासा के अभाव में हित की चर्चा शुरु नहीं होती। आज के विकृत समाज में अच्छे शास्त्र और अच्छी चर्चा वाञ्छित नहीं रह गयी है। ऐसी विषम परिस्थिति में भी यदि दैववश कोई व्यक्ति मुमुक्षु स्वभाव का हो तो उसे पातञ्जल योगशास्त्र के ''परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'' इस सूत्र का विशद अर्थ समझने, ध्यान में रखने और जीवन में सुधार लाने का प्रयत्न लगन से करना चाहिए। ममता सर्पिणी से बचाव हो जायेगा। तब आगे परमार्थ पथ दिखने लगेगा।

सन्निकर्ष उत्कर्ष या, देता है अपकर्ष।
उससे बच लो दूर से, जो दे गन्दा हर्ष।।

• दम्भ •

अपनी कमियों को छिपाने के मिथ्या उपायों को दम्भ कहते हैं। धन, गुण, ज्ञान, कुल, शील के अभाव में भी धन आदि का अपने में बखान करने

वालों को पोल छिपाने के लिए कृत्रिम उपाय करने पड़ते हैं। समाज में महान् कहलाने के लिए बहुत लोग नाना आडम्बर रचते हैं। मिथ्या अहंकार से, बुढ़ापे में भी जवानी की कल्पना से, दरिद्रता में भी धनवान् की भावना से, जड़ता में भी विद्वान् बनने की ललक से, विषयस्पृहा बढ़ती है, विषय लाभ के लिए लोग दम्भ करते हैं। सफेद बाल काले और फीके गाल लाल कर लेते हैं। ऐसे अन्य कई साधन अपनी कमियाँ छिपाने के लिए अपनाये जाते हैं। इससे कभी–कभी बड़े अपराध हो जाते हैं। स्वरूप भूलना पहला अपराध, ममता बढ़ाना दूसरा अपराध और दम्भ से दूसरों का धन आदि हरण तीसरा घातक अपराध होता है। दम्भ का कुछ अंश सबके जीवन में होता है उसे समझते हुए दूर करना मूलभूत धर्म होता है। अभ्युदय का मूल वही होता है। देखिए भगवद्गीता ''अमानित्वम् अदम्भित्वम्'' अ० १३ श्लोक ७। दम्भ जैसे–जैसे विस्तार पाता है व्यक्तित्व वैसे–वैसे शून्य होता जाता है। यद्यपि दम्भी व्यक्ति स्वयं को सफल और चतुर मानता है। फिर भी वह समाज की नजरों में प्रभावी कोई अच्छाई धारण नहीं करता। दिखावे का उसका जो भी कर्तव्य होता है उसके प्रति वह न तो प्रवीण होता है न आस्थावान् न वफादार। इस तरह लोक–दृष्टि में वह एक नगण्य व्यक्ति होता है।

अभी देश में जूनियर हाईस्कूल स्तर के कई लाख शिक्षक ऐसे हैं जिन्हें शिक्षा के वेतन पर दूसरे सरकारी कामों में जोड़े रखा जाता है। जो बच्चे उनके छात्र माने जाते हैं उनकी और ऐसे शिक्षकों की हाजिरी केवल रजिस्टर में होती है। बिना शिक्षा के ही बच्चे कक्षायें लांघते रहते हैं। यह क्रम देश में पिछले ६०. ७० वर्षों से देखा जा रहा है। फिर भी देश की चालू सरकार सब को साक्षर करने का पवित्र संकल्प दुहराती रहती है। आरक्षण के आधार पर पिछड़ों की भर्ती कालेजों में करने का समर्थन सुप्रीम कोर्ट से लेती है। इससे बड़ा दम्भ क्या होगा? ऐसे हजारों दम्भों का सृजन और प्रशिक्षण सरकारी तन्त्रों से मिलता रहता है। धर्मनिरपेक्ष सरकार मानवजीवन के धार्मिक पहलू की पूरी उपेक्षा करती, हजारों समस्यायें उपजाती और समाधान के नाटक रचती रहती है। आज बिना दम्भ के जीवन दुर्लभ हो गया है। अभी नैतिक, आत्मिक अभ्युदय के लिए दम्भों का विभाजन करके क्रम से उनका निवारण करना होगा। १ परम्परागत २ परिस्थिति जन्य और ऐच्छिक ये तीन वर्ग दम्भ के होंगे जो जीवन के सारे पहलुओं से चिपके होंगे। राष्ट्रहित में इन तीनों को कड़ाई से उखाड़ना होगा। तीसरे वर्ग पर अंकुश लगने पर दूसरे और पहले पर भी प्रभाव पड़ेगा। ''दुर्गम्पथस्तत्कवयो

वदन्ति'' आत्मकल्याण का मार्ग सुलभ नहीं होता। उसमें अपने दुर्व्यसन घने कण्टक होते हैं। उनसे बचे बिना अपना अभ्युदय सम्भव नहीं है।

जैसे हो वैसे रहो, रचो न झूठा दम्भ।
बौना क्यों ऊँचा बने, चढ़ माटी के स्तम्भ।।

• ईर्ष्या, असूया और मत्सर •

दो पर्यटक किसी सुन्दर शहर में घूमने निकले। नगर की बनावट, सफाई और लोगों की शालीनता अनुकरणीय थी। बाहर के उपवन भी वहाँ बहुत रमणीय थे। मालियों के चेहरे खिले फूलों को फीका कर रहे थे। वहाँ देखकर लौटने पर एक को सिर दर्द हो गया। दूसरे ने उसे सुबह पाँच बजते ही अच्छी दवा लाकर चंगा करने का आश्वासन दिया। रात तीन बजते ही वह उसी उद्यान के लिए चल पड़ा। उद्यान में एक कोने से वह घुस पड़ा। सुन्दर फूलों और फलों वाली डालियाँ तोड़कर वह साथी से मिला, फूल सुंघाये और फल चबाने को दिये। कहा कि दर्जनों पेड़ों की डालें मैंने तोड़ी हैं और बहुत से फल तोड़ तोड़कर बाहर फेंक दिए हैं। दिन उगते तुम चलकर देख लेना। यह सुनते ही उसका सिरदर्द मिट गया। दूसरे को उसके दर्द की दवा मालूम थी। दर्द वाला था ईर्ष्यालु और दवावाला था मत्सरी। दूसरों का वैभव न सह पाना है ईर्ष्या और उसे तहस–नहस करने की प्रवृत्ति है मत्सर। सृष्टि में होने वाले सारे उपद्रव कलह और युद्ध इन्हीं दो के परिणाम हैं। कलि का पिछला रक्तरञ्जित इतिहास इनका ही परिणाम है। आज विश्व के कोने–कोने में फैले आतंकी प्रशिक्षण केन्द्र और उन्हें स्थानीय प्रजा द्वारा मिल रहा संरक्षण इनका ही परिणाम है। भारतीय नेता जो उनका वचनमात्र से विरोध सन् ४७ से और उससे भी पहले से करते आ रहे हैं आतंकी देशों से ही आतंक मिटाने में सहयोग माँगते हैं यह सब भी ईर्ष्या और मत्सर के पेटेन्ट परिणाम हैं। नेता उतने सज्जन नहीं होते जितना बनते हैं बल्कि वे ईर्ष्या मत्सर के पानी से ही बने और सँवरे होते हैं। ईर्ष्या मत्सर की गलियों से होकर ही वे केन्द्रीय सत्ता की कुर्सी तक पहुँच पाते हैं। देश में जो विनाश विध्वंस और विफलता देखने को मिलती है वह वाणी की अच्छाइयों में छिपी मूलभूत इन बुराइयों के ही परिणाम होते हैं। ये दोष स्वरूपविस्मृति, भौतिक स्पृहा और ममतास्पदों की हानि या नाश की सूक्ष्म शंका से होते हैं। परीक्षा में योग्य छात्रों के अंक कम किए कराये जाते हैं कि कहीं अपना प्यारा लड़का पिछड़ न जाये।

ऐसे ही अन्य भी घटनाएँ होती रहती हैं। मत्सर की प्रवृत्ति सही ठहराने के लिए असूया आती है। गुणों में दोष निकालना असूया है। कसाई गाय में भी कोई बुराई बतलाता है। पापियों ने विश्वकल्याणमय सत्य सनातन धर्म में भी बुराईयाँ बतलाते हुए कटे–कटे अपने नाना धर्म फैलाये हैं। दूसरे सारे धर्म जो कट कर वास्तविक अधर्म बन चुके हैं, सनातन धर्म के ही अधूरे रूप हैं। आकाश एक है, धरती एक है, ईश्वर एक हैं, धर्म भी एक ही है। केवल व्यवहार के लिए ये कटते हैं। इनकी वास्तविक एकता भूलने से ये ही अधर्म बनकर मानव के विनाश का कारण बनते हैं। वास्तव धर्म मानवता है, वही सत्य सनातन एवं वैदिक भी है। वह जब मानव के प्राचीन पापों के फलस्वरूप विघटित होता है, मिथ्या भेद दृष्टि बढ़ती है, तब ईश्वरीय प्रतिक्रिया होती है और अपराधी मानव को अधूरा जीवन देने के लिए नाना अपधर्म बनने लगते हैं। तब उक्त मानव अपनी अधूरी दृष्टि और अधूरे जीवन में ही स्वयं को धन्य मानने लगता है। ईश्वरीय सम्बन्धों को पूरी तरह से जानते हुए उनके अनुकूल आचरण में पूरा उत्साह ही मानव जीवन की पूर्णता है। वही मानवता है, उसे ही विष्णुभक्ति या प्रपत्ति भी कहते हैं। अधूरा धर्म सदा ही संघर्ष का बीज होता है, उसका नाम और दिखावे का रूप चाहे जैसा भी हो। प्राचीन पाप मानवधर्म को बिगाड़ते हैं। ईर्ष्या असूया मत्सर आदि दोषों के द्वारा मानवता को विकृत भी करते रहते हैं। कुछ लोग इसे ही संसार कहते हैं पर है यह केवल विकार। संसार तो रचनात्मक होता है। सम्यक् सार संसार। ठीक ढंग से प्रगति को संसार कहते हैं। इन दोषों को अपने हृदय से निकालने का एक ही उपाय है स्वरूपनिष्ठा। दूसरा कोई भी उपाय संसार में नहीं है। ये दोष आग की भाँति हृदय में दाह उत्पन्न करते हैं, आयु और आरोग्य की कटौती भी करते हैं। इनसे दूसरों की हानि कम और स्वयं की हानि ज्यादा होती है। समाज से इन दोषों को दूर करने के लिए आत्मविद्या का व्यापक प्रचार करना चाहिए। बच्चों को आरम्भिक कक्षाओं से ही आत्मविद्या देनी चाहिए। यह विद्या दर्शन है, धर्म में इसकी गणना नहीं होती, इससे धर्म निरपेक्ष लोग भी इसे अपना सकते हैं। भारतीय अन्न, जल, प्रकाश, वायु से यदि परहेज न हो तो भारतीय कल्याणमयी ज्ञानराशि का आदर अब भी, देर से भी, अपने हित के लिए करना चाहिए। मानवता को बाँटने की बुरी नीयत छोड़ देने में ही हित है। आत्मस्वरूप भूलने से ही मानवता बँटती है। तभी कोई स्वयं को हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख या ईसाई मानता है। स्वरूप की एकता ही मानव की एकता है। मिट्टी के ढाँचे में तो भेद बनते ही हैं। अपने

चैतन्यमय स्वरूप का सदा ध्यान रखना चाहिए। सब के हित का चिन्तन सदा कल्याणकारी है। हिंसा की प्रवृत्ति लोभ बढ़ने से ही होती है। प्रतिहिंसा बुरी है किन्तु सुरक्षा के उपाय वाञ्छनीय हैं। सभी लोग उपदेश नहीं मानते। इसीसे समाज को शासन तन्त्र की सदा से अपेक्षा है।

अम्लपित्त ईर्ष्या बढ़ी, दोष कथा दुर्वात।
सन्निपात मत्सर बढ़ा, ये जीवन के घात।।

• वित्तदोष •

पूर्व पुण्यों से यदि किसी की बुद्धि आत्मकल्याण की ओर होती है तो वह परिग्रहों से स्वयं बचता रहता है, वह जानता है कि सारे मानस दोष धन में बसते हैं। यदि नयी उम्र में किसी को वित्त दोष समझा दिया जाये या वह स्वयं जान रहा हो तो आत्मिक साधना की दिशा में बहुत आगे बढ़ जायेगा। दूसरे युवक बहुत धन अर्जित कर लेंगे किन्तु उनकी प्रवृत्तियाँ ज्यादातर विनाश ही लायेंगी। शीलवान् निर्धन धीरे–धीरे धन पा जाता है और शीलहीन व्यक्ति तेजी से धन पाकर शीघ्र हर तरह से बरबाद हो जाता है। इस सन्दर्भ में अनेक दृष्टान्त एकत्र किये जा सकते हैं। प्रत्येक धनागम के साथ अपने शील का ह्रास बहुतों की समझ में आ जाता है। यदि कोई धन भिक्षा का न हो, अन्यायपूर्वक किसी का न लिया गया हो तो भी धन तो धन होता है, कुछ न कुछ भले, बुरे संस्कार लिए ही रहता है। वह जब शुरु–शुरु अपना वित्त होता है, यानी अपना स्वत्व उस पर स्थापित होता है तो वह विवाह बन्धन जैसा ही होता है। कन्या के संस्कारों की तरह जड़ धन के भी संस्कार पुरुष को बुरी तरह से प्रभावित करते हैं। यह स्वयं अनुभव करने की चीज है। धन से बचकर ही कोई भी १व्यक्ति अपनी रक्षा कर सकता है।

• धन में पाप पुण्य और उनका संक्रमण •

कोई भी रमणी किसी की बेटी और किसी की पत्नी होगी ही। इन दो सम्बन्धों के बिना रमणी नहीं होती। उसमें पिता और पति के संस्कार प्रभाव और अधिकार भी होते हैं। ऐसे ही कहीं भी पड़ा रखा धन किसी के द्वारा किसी भावना से किसी व्यक्ति के लिए, किसी विशेष कार्य के लिए होता है। धन कभी भी अपने उन संस्कारों से मुक्त नहीं होता। कहीं पड़ा धन किसी को मिल जाये तो यह जरूरी नहीं कि पाने वाला उससे अपने मनका ही काम कर सके। वह धन अपने संस्कारों के अनुरूप काम में ही लगेगा। वह बिना पैर के ही अपने अनुकूल व्यक्ति के हाथ पर पहुँच जायेगा। ऐसी अनेक

घटनायें घटित हो चुकी हैं। इसलिए पड़ा धन कभी भी नहीं छूना चाहिए। उसे अपनाने से बुद्धि बिगड़ती है। वह अपना उपर्जित तो कभी होता नहीं। फिर उससे मोह क्यों ? फिर भी यदि कोई ले ही ले तो उसे चाहिए कि उसे जल्दी से अनेक लोगों की सेवा में लगा दे। किसी एक की सहायता में न लगाये। एक को ज्यादा हानि उठानी पड़ सकती है। पड़े धन में पाप होता ही है। जिसके जेब से वह गिरता है वह उसका पाप लेकर ही उतरता है। चोरी के धन में पाप ज्यादा होता है। उसमें धनपति की पीड़ा और शाप जुड़ा होता है। इसी से चोर अनेक पीढ़ियों तक दरिद्र होते हैं। चूहों की भाँति छिपे ही रहते हैं, उन्हें यश मिलता ही नहीं। उनके हाथ के पानी से अज्ञान बढ़ता है। रिश्वतखोरों के साथ बैठने से भी बुद्धि दूषित होती है। अच्छे कर्म ध्यान में नहीं चढ़ते। रिश्वतखोर रिश्वत का अंश ऊपर बढ़ाने के सिवा दूसरा कोई शुभकर्म नहीं सोचता। वह अपने धन से यदि कोई शुभ कर्म करे तो उसका शुभ फल उसे नहीं मिलता। उसकी कोई अच्छी जाति नहीं होती। अपने हक की कमाई पर जीने वाला भंगी उससे अच्छा होता है। किसी रिश्वत के माध्यम से मिली नौकरी से आयी खुशहाली केवल दिखने की होती है। हृदय में दरिद्रता ही छायी रहती है। अपनी कड़ी मेहनत पर सादा जीवन बिता लेना बहुत अच्छा है।

गन्दा धन अच्छे गुणों को रहने नहीं देता। उत्तम गुण थोड़े धन से भी चमकते हैं। धन की चकाचौंध में पड़ कर कभी रिश्वती जीवन नहीं अपनाना चाहिए। कुछ जीव जलते अंगारों में भी नहीं मरते, ऐसे ही शुद्ध जीवन रिश्वती दुनियाँ में खो नहीं जाता। सत्य धर्म ही मानवता की रक्षा करता है न कि रिश्वतबाजी। मानवता दुर्लभ हो सकती है किन्तु धर्म उसी पर टिका होगा। सारा विश्व धर्म पर ही टिका है। धन ने आदिकाल से ही धर्म का नाश किया है। समाज को क्लेशों की आग में झोंका है। यह जितना ही प्यारा लगता है उतना ही बुरा होता है अतः प्रत्येक काम के लिए केवल अपने श्रम पर भरोसा करना चाहिए।

वित्त चित्त पर जब चढ़ा, मढ़ा तभी संसार।
इससे बचकर साधुजन, रहते नित अविकार।।

• समता •

धन के पीछे दौड़ने की देखा देखी से बचा व्यक्ति ही सुख–दुःख मान–अपमान शीत, उष्ण, मित्र, शत्रु आदि द्वन्द्वों में समभाव बनाने का ध्यान

रख पायेगा। वही कल्याण मार्ग में अपनी प्रगति भी आँकेगा। वही समाज को प्रकाश भी दे पायेगा। मानव धर्म की रक्षा उस पर ही निर्भर होगी। मानव जीवन का सदुपयोग वही कर पायेगा। अन्तर्मुखता का महत्त्व वही समझेगा। अध्यात्म पथ की लम्बी यात्रा का दृढ़ संकल्प उसी का बनेगा। उसे देख कर ही ईश्वर विश्व सृष्टि की सार्थकता मानेंगे एवं उसकी ही सहायता कर स्वयं को परम आत्मा मानेंगे।

भगवान् ने समता को योगसाधन न मान कर योग ही कह दिया है। ''समत्वं योग उच्यते'' गीता अ. २ श्लोक ४८। योगशास्त्र में चित्त की दस वृत्तियाँ (अवस्थायें) कही गयी हैं। जब योगी का चित्त कोई भी वृत्ति न पाता हो उसकी उस अवस्था को योग कहते हैं। जब सुख या दुःख कुछ भी न हो तब उस अवस्था को समता कहते हैं। चित्त की वृत्तियाँ सुख या दुःख के वर्ग में ही आती हैं। इससे वह अवस्था योग ही होती है जब सुख या दुःख कुछ न हो। इसीसे भगवान् ने समत्त्व को योग कहा है।

जब काम या क्रोध का भाव बनने की स्थिति हो उस समय शान्त रहना यानी मानस आवेग को रोकना ही समभाव है। यह समभाव चिर सहज साधना यानी चित्तवृत्ति निरोध के बाद आता है। श्रेय के इच्छुक जन प्रतिदिन ध्यान के लिए थोड़ी देर अवश्य बैठते हैं। वे देखते हैं कि कब–कब मन डाँवाँडोल होता है। कब इसे रोकना कठिन होता है। कौन सी वासना उपद्रव खड़ा करती है, उस वासना का मूल कौन सा अज्ञान है, वह अज्ञान किस स्पृहा या ममता या लोक व्यवहार पर निर्भर है। उन्हें अब भी महत्त्व देते रहना कहाँ तक उचित है। उसके लिए कौन से ग्रन्थ के किस सन्दर्भ का या किस सन्त की किस वाणी का सहारा लिया जाये या प्रभु की शरणागति की जाये और यदि वह करनी हो तो कैसे निष्पन्न होगी इत्यादि। हमारे इतिहास पुराणों में समता के सैकड़ों आदर्श उदाहरण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को महाभारत संग्राम में उतारने से पहले नित्य समभाव रखने वाले सांख्ययोग का उपदेश दिया। भगवान् राम ने रावण से युद्ध किया था स्थायी समभाव रखते हुए। बीच के विलाप प्रलाप आदि मानव स्वभाव का प्रदर्शन मात्र था। श्रीमद्भागवत में वृत्रासुर ने इन्द्र से युद्ध किया था स्थायी समभाव रखते हुए। उसका शीलमय चरित्र पठनीय है, उसकी भगवन्निष्ठा अनुकरणीय है। इस समता को स्थितप्रज्ञता भी कहते हैं। गीता में इसकी चार अवस्थायें वर्णित हैं। अध्याय २ श्लोक ५६–५६। स्थितप्रज्ञ को चौदहवें अध्याय में गुणातीत कहा गया है। श्लोक २४, २५।

यत्नों से जब चित्त में, आ जाये गुणसाम्य।
तब न दीखता जगत में, अर्थ एक भी काम्य।।

• समाधान •

समता का परिणाम होता है समाधान। लौकिक दृष्टि से परिस्थितियाँ चाहे जितनी भी विषम हों पर आत्मनिष्ठ योगी या ज्ञानी के लिए वह एक घटनामात्र होती हैं। जैसे महाभारत संग्राम में सारे वीर मारे गये, धरती वीरों से खाली हो गयी, फिर वह देखने लायक भी नहीं रह गयी किन्तु वेदव्यास जी की दृष्टि में वह एक अवश्यम्भावी घटना थी, उसे टाला नहीं जा सकता था। युधिष्ठिर के लिए वह एक विकट समस्या बन गयी, जब कि युद्ध उनके आदेश से हुआ और परिणाम भी उनका मनचाहा हुआ था। अल्प सत्त्ववाले व्यक्ति को अपना चाहा परिणाम भी खलने लगता है। मानव को यथा सम्भव अपने हृदय में सत्त्वगुण का विकास करना चाहिए। वेदव्यास जी की मनःस्थिति समाधानमय थी जब कि युधिष्ठिर की अशान्तिमय थी। यह भेद गुणों के भेद से हुआ सत्त्वगुण के विकास से वेदव्यास जी दूरदर्शी हुए। उनके लिए दूर तक का अतीत और अनागत प्रत्यक्ष था, इससे भ्रम, राग, द्वेष और हर्ष विषाद नहीं हुआ। युधिष्ठिर को निकट ही दिखता था इससे दुःखी हुए। उनके दुःखों का अन्त करने के लिए नाना उपाय भगवान् श्रीकृष्ण ने किये। हम यदि चाहें तो भगवद्गीता वाली समता को अपने चित्त में स्थायी बना लें, जिससे जीवन में समाधान सदा बना रहे, आदर्श संकल्प से उदार कर्म हों, परमार्थ भी सामने हो।

दुर्मति शंकाऽऽतंक दे, समाधान दे बोध,
इसीलिए करते सदा, सन्त स्वयं का शोध।

• श्रद्धा •

उत्तम मानकर अनुराग रखना श्रद्धा कहा जाता है। सत्त्व आदि गुणों की बनावट के अनुसार ही उत्तमता की कल्पना होती है। समाधानमय चित्त में सत्वगुण विकसित रहता है। दूसरे गुणों का अनुपात उसमें अति अल्प रहता है। उन अल्प गुणों को भी कमसे कम करते रहने का सुझाव सन्त और शास्त्र देते हैं। अपनी रुचि और प्रवृत्तियों से गुणों का अन्दाज लगता है। उसका ध्यान रखते हुए शुभ चिन्तन और कर्म का समय और लगन बढ़ायी जाती है। उससे भगवान् के प्रति अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ता है। संसार बेकार लगने

लगता है। इससे शरीर छूटने पर या तो दूसरा शरीर मिलता ही नहीं किन्तु प्रारब्ध शेष रहने पर यदि मिलता है, तो वह भजन में सहायक ही होता है। गायक लोग अपने गीत का राग कुछ देर तक बढ़ाते हैं। बढ़ा हुआ राग गीत में और उसके भाव में आकर्षण बढ़ाता है। यह तथ्य सर्वविदित है। ऐसे ही प्रभु के नाम रूप गुण शील लीलाओं का स्मरण, कीर्तन करते हुए यथा सम्भव सेवा पूजा का समय बढ़ाने से अपना जीवन स्वयं को ज्यादा अच्छा लगने लगता है, दूसरे भी ललक से उसका अनुकरण करते हैं, इससे लोक, परलोक दोनों सुधरते हैं। श्रद्धा बढ़ाने के उपाय सात्त्विक जन जारी रखें यह सुझाव श्रद्धा गुच्छ में ललित भाषा में प्रस्तुत है। रसमय श्लोक तन्मयता बढ़ाते हैं। ग्रन्थ उत्तम वह होता है जो पठन मात्र से चित्त को सदा को सजा दे।

रजस् तमस् के गये, रहे, सात्त्विक चित्ताकाश।
उसमें श्रद्धा कौमुदी, पाती आप विकास।।

• प्रार्थना •

हम कई गीत गुनगुनाते रहते हैं, भावना के अनुकूल गीत गले में आ बैठते हैं, वे भावना को और भी पुष्ट करते हैं। भगवान् हमारी भावना के अनुरूप ही अगला जन्म देते हैं। या यों कहें कि हमारी भावना ही हमारी अगली भूमिका होती है। कुछ लोग अगला जन्म मानना नहीं चाहते, वे युक्तियों से पिछला मानने को बाध्य होते हैं। जिन्हें सी.पी.एम.एल. पार्टी ज्यादा रुचती हैं उनके बारे मानना पड़ता है कि वे लोग एम.एल. के करीबी रहे हैं। जिनका मन पढ़ाई में नहीं लगता, फिर भी नकल से या दबाव से परीक्षा पास करना चाहते हैं उनके बारे मानना पड़ता है कि ये पहले भी मूर्ख मण्डलेश्वर रहे हैं। जो पद पद पर चोरी करते रहते हैं उनका चोरी का पुराना संस्कार मानना पड़ता है। जो लोग समाज से भाग कर माला फेरने लगते हैं उन्हें भगोड़ा माना जाता है, जो लोग दयावान् और परोपकारी होते हैं वे पुराने कायर या धर्मात्मा माने जाते हैं। ऐसे ही वर्तमान से भविष्यत् की भी कल्पना होती है वह सच्ची निकलती भी है। किसी कुवाँरे को देख कर कहा जा सकता है कि इसके पाँच या सात तन्दुरुस्त बेटे होंगे। किसी को देखकर ही निःसन्तान भी घोषित किया जा सकता है, घोषणा सत्य भी हो सकती है।

यदि आत्मा नित्य नहीं होता तो आज संसार सूना होता। उसकी नित्यता ही भविष्यत् का और हमारी कर्मवशता का आधार है। अस्तु, शरीर की बनावट के समान हमारी वाणी भी जो भावों से प्रवाहित होती है, हमारे भविष्यत् का निर्माण करती है। इसीसे हम उत्तमोत्तम गीत अपने गले का हार, बनाते हैं। हम राग से गा गा कर भगवान् से कुछ माँगें, वे सुनें, मानें और दें भी तो जीवन धन्य हो जाये। प्रार्थना गुच्छ में सुन्दर सफल प्रार्थनायें हैं, वे आसानी से कण्ठस्थ होंगी। भगवान् भी उन्हें अपनायेंगे। भाग्यवान् जन अवसर नहीं चूकते।

• संकल्प •

कोई भी इच्छा या प्रार्थना संकल्प से बनती है। फलों और उपायों के प्रति निष्ठा को संकल्प कहते हैं, वही कार्यारम्भ में बोला जाता है। बोलने से संकल्प दृढ़ होता है, उससे कर्म सफल होते हैं। होनहार लोग अपने संकल्पों की समीक्षा करते रहते हैं, सुधारते भी हैं। प्रभु के संकल्प के अधीन ही चेतनों के संकल्प होते हैं। यदि हमारा संकल्प शुभ हो तो वह प्रभु का ही होगा, उसे रोकने वाला कोई नहीं होगा। संकल्प ही मानव की सही पहचान है। जब समाज में अच्छे लोग होने वाले होते हैं तो संकल्प सुधरने लगता है और जब बुरों की बारी आती है तो वही बिगड़ने लगता है। हम अपनी सुन्दर स्थायी सफल पहचान बना सकते हैं। बनाना भी चाहिए। संकल्प गुच्छ में यही बात ललित विस्तार से कही गयी है।

• ध्यान •

आगे भगवान् का नखशिख ध्यान सत्रह श्लोकों में वर्णित है जो अन्यत्र दुर्लभ एवं अत्यन्त उपयोगी है। हमारे प्राचीन कर्म हमारे ध्यान के लक्ष्य बनाते रहते हैं। शास्त्रों और सत्संग से हम स्वयं भी अपने ध्येय सँवार सकते और पूर्वपापों को विफल कर सकते हैं।

• मानस पूजन •

मानस पूजन मानव जीवन का सबसे महान् फल है जो ध्यान पूर्वक ही सम्भव है, इसलिए पहले ध्यान रखा गया है। मानसपूजन में मन को प्रभु की पूजा में अपनी श्रद्धा के अनुसार बनाया और चलाया जाता है। यानी पूजाक्रम, उपकरण, मन्त्र, भाषा और भावरूप में मन को ढाला जाता है। यह कार्य भावुकों के लिए अति सरल और संसारियों के लिए अति कठिन होता

है। अभ्यास से उनके लिए भी सरल हो जाता है। यहाँ जो मानस पूजन का क्रम बना है वह एक उदाहरण मात्र है। प्रत्येक साधक अपनी भावना से कुछ अलग ही ध्यान और मानस या बाह्य पूजन करता है। भगवान् के प्रिय लोग इस कार्य में स्वयं अधिकाधिक दक्ष हो जाते हैं।

जो लोग धर्मशील नहीं होते वे भी अपने किस्म का मानस पूजन करते ही हैं। किसी गुण्डे, किसी नेता, किसी पदाधिकारी, किसी रमणी या किसी बिगड़ैल बैल को अपने जाने माने उपायों से अपने अनुकूल बना कर उससे अपने काम साधना चाहते हैं। बहुत, अंशों में सफल भी होते हैं। किसी को अपने अनुकूल बनाने के उपाय सोचते रहना मानस पूजन ही तो है। आपका कोई सुकृत होगा, आप भी जगत् के रचयिता, नियन्ता एवं स्वामी प्रभु, जो दया की एक अति प्रिय मूर्ति हैं, को मानस फूल चढ़ाकर अपने अनुकूल बनाने के प्रयत्न कीजिये। सफल होइये। गाइये.....

गाइये ब्रजपति अति सुन्दर, मानस दुरित उदधि मृदु मन्दर।
शकट पूतना बक खर तारे, ब्रजवृद्धों के अतिशय प्यारे,
सात दिवस कर धरे महीधर,
गाइये ब्रजपति अति सुन्दर, मानस दुरित.....।
मारे असुर पास जो आये, चुरा चुरा के माखन खाये,
मान रहित पद पतित पुरन्दर, गाइये.....।
मथुरा मामा कंस पछारे, क्रम से बढ़े असुर संहारे,
कीर्ति बनायी विश्वमनोहर, गाइये.....।
सब रण छोड़ द्वारका भागे, पाण्डव शत्रु महीपति जागे,
दिये पार्थ को युद्ध विजय वर, गाइये.....।
गीता तत्त्वबोध से सब जग, देखे अन्दर बाहर जगमग,
गाये उनके गीत गुणाकर, गाइये.....।

हरि के सारे भक्त जन, झुकते नित्य समक्ष,
उनको पाने में तभी हो जाते हैं दक्ष।
अर्थ यहाँ संक्षेप से, लिये कहीं विस्तार
वर्णित हैं, सज्जन पढ़ें, तजें मृषा संसार।

भावकुसुमाञ्जलिः

यस्माद्वियुज्य जनिमानखिलाननर्थान्
स्वप्नोपमान् सृजति वासनयाऽऽत्मनीव।
युक्तः क्षणादपनयत्यखिलांश्च येन
चित्तेऽस्तु सद्गुणनिधिः पुरुषोत्तमोऽसौ।।१।।

भावार्थ–संसार में जन्म लेने वाला जन्तु प्राचीन कर्मों के फलस्वरूप जिनके अलग हो जाने से सारे अनर्थों की सृष्टि वैसे ही कर लेता है जैसे स्वप्न के समय केवल वासनाओं से अपने आप में नाना विचित्र सृष्टियाँ किया करता है, और पुनः उनसे भक्ति सम्बन्ध बन जाने से क्षणभर में ही उन सारे अनर्थों को दूर भी कर लेता है ऐसे उत्तम गुणों के निधि भगवान् पुरुषोत्तम मेरे चित्त में रहा करें। यह आशीर्वादात्मक मंगल हुआ।

यो भक्तचित्तनिलये परिहृत्य दोषान्
स्वामी स्वयं गुणकणान् परिसञ्चिनोति।
तं संश्रितोद्धरणसत्वरबाहुदण्डं
ग्राहद्विधाकरणचक्रधरम्प्रपद्ये।।२।।

जो स्वामी भक्त के चित्तरूपी भवन के अन्दर के सारे दोषों का वारण करके वहाँ छोटे–छोटे भी गुणों का संग्रह करते रहते हैं, जिनके चार भुजदण्ड आश्रितजनों के उद्धार में तनिक भी विलम्ब नहीं करते एवं जो अहं ग्रह रूपी ग्राह को दो खण्ड करने वाला सुदर्शन चक्र धारण कर रहे हैं, उन भगवान् को मैं अपने रक्षक के रूप में स्वीकार करता हूँ। यह वस्तु निर्देशात्मक और नमस्कारात्मक मंगल हुआ। रक्षक मानने पर नमस्कार होता ही है।

• अथ अहंकार गुच्छः •

चित्तं नृणां गुणमयं गुणिनश्च गाव–
स्तौर्दृश्यते जगदिदं गुणवत्समंस्तम्।
स्वं निर्गुणं सततदीप्तमपास्तदोषं
रूपम्बहिर्मुखनृणामपि भान्न भाति।।३।।

अहंकार का निरूपण करते हुए कहते हैं कि मनुष्यों का (सारे प्राणियों का) चित्त सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से बना है। इन्द्रियों में भी ये गुण होते हैं। इन गुणमय मन (चित्त) और इन्द्रियों से यह सारा संसार गुणमय दीखता है। गुणमय का दर्शन गुणमय साधनों से होना स्वाभाविक है। किन्तु अपना जो निर्गुण एवं निर्दोष रूप, है जो स्वभाव से ही स्वयं को सदा प्रकाशमान है वह लोगों को प्रकाशित रहता हुआ भी अप्रकाशित सा ही रहता है।

विशेष–यद्यपि अविवेक से हम स्वयं को देहादि से भिन्न नित्य प्रकाशस्वरूप मानने को तैयार नहीं होते फिर भी जब अपने किसी अनुभव का निरूपण करते हैं तब वह अनुभव हमारा विशेषण बना हुआ मिलता है। उस समय विशेष्य बना अपना स्वरूप पहले से ही प्रकाशमान लगता है। इसी से हम अपने अनुभव के बारे बोलते हैं कि मैं पर्वत देख रहा है। यहाँ ''मैं'' विशेष्य होता है और ''देखना'' विशेषण यह ''मैं'' नित्य प्रकाशमान, देहादि से विलक्षण अपने स्वरूप मात्र को पकड़ता है। जैसे देह के अनुभव के साथ उसकी लम्बाई, वजन, रंग, वस्त्रादि, जाति, कुल, गोत्र, आकांक्षा, शील, स्वत्व, पिता आदि के सम्बन्ध एवम् ऐसे अन्य भी विषय ध्यान में स्वयं नहीं चढ़ते ऐसे ही स्वयं प्रकाशमान आत्मा के अनुभव में देह इन्द्रिय आदि भी सम्मिलित नहीं होते। फलतः मानना पड़ता है कि शाश्वत शुद्ध चैतन्यमय आत्मा सारे अनुभवों में तो रहता ही है और बाहरी अनुभवों के अभाव के समय भी वह हार के सूत्र की तरह जारी और प्रकाशमान ही रहता है। सूर्य में और आत्मा में अन्तर यह होता है कि वह तेजः पुञ्ज स्वयं को नहीं जानता उसे केवल हम लोग जानते, हैं जब कि हम स्वयं को स्वयं ही जानते हैं, दूसरे नहीं जानते। स्वयं को सदा स्वयं जान रहे तत्त्व को ही आत्मा कहते हैं। ऐसा पदार्थ विश्व में दूसरा नहीं है। आत्मा को ही पुरुष कहा जाता है। इस अद्भुत तत्त्व से भी अद्भुत एक तत्त्व है जो पुरुषोत्तम, परमेश्वर या परमात्मा कहा जाता है। इसका विशद अनुभव वेदों से ही सम्भव है। विद्वानों का मानना है कि उस परम तत्त्व को जानने के बाद ही सारे ज्ञान सही होते हैं।

उससे पहले देवादि श्रेष्ठ चेतनों का भी ज्ञान अधूरा रहता है। कर्मबन्धन के रहने तक उक्त परम तत्त्व का ज्ञान नहीं हो पाता। होता भी है तो ठहरता नहीं है। कर्म बन्धन का नाश तत्त्वबोध और मुक्ति ये तीनों एक साथ चेतन को मिलते हैं। अहंकार को समझने के लिए आत्मा का यह सामान्य ज्ञान प्रथम अपेक्षित होता है।

वेदैकवेद्यपुरुषः परमः स्वरूपा
सूक्ष्मो नृणां गुणदृशां कथमेव लक्ष्यः।
स्थूले वपुष्यहमिति प्रतिरूढभावा–
स्तस्यैव सङ्गिषु जना ममतां वहन्ति।।४।।

जब स्वयं के लिए नित्य प्रकाशमान अपने स्वरूप को संसारी चेतन जानता हुआ भी अनजान सा बना रहता है। उसकी इन्द्रियाँ शब्दादि त्रिगुणात्मक विषयों में स्वयं उलझी हुई मन को भी अपने साथ उलझाये रहती हैं। तब अपने स्वरूप से भी अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म तत्त्व को वह कैसे जान सकता है। वह तो केवल वेदों से ही जाना जाता है। जड़ स्थूल शरीर में अहम् भाव रखते हुए जन्म लेने वाले संसारी चेतन तो जो वास्तव में अहम् बुद्धि का विषय नहीं है उस जड़ शरीर में ही अहम् भाव (मैं पन) रखते हैं, उनका ध्यान नित्य प्रकाशमान अपने स्वरूप को मानो छूता ही नहीं। इसी से लोग आत्मा के नित्य सम्बन्धी परमात्मा को एकदम भूलकर, स्वयं को भी नित्य देखते हुए भी भूल कर केवल शरीर सम्बन्धी अन्न, वस्त्र, शय्या, भवन, उनके उपकरण, सुवर्ण आदि एवं मित्र, स्त्री, पुत्र, सेवक आदि में ही ममता बनाये रहते हैं।

देहेऽहमित्यवधृतिर्ममताऽनुबन्धे
मूलं समस्तकुधियामथ पात्मनाञ्च।
सत्सङ्गतः श्लथयितुं द्वितयं यतन्ते
ध्यानेन चैव सुधियो धृतविष्णुपादाः।५।।

शरीर मात्र में अहम् की अवधारणा और शरीर के अनुबन्धों अन्न, वस्त्रादि में ममता सारी दुर्बुद्धियों और दुष्कर्मों का मूल होता है। इससे विवेकीजन इस मिथ्या अहंकार और मिथ्या ममता को भगवान् की शरणागति करके सत्संग और ध्यान के द्वारा शिथिल करने के प्रयत्न करते रहते हैं।

लोकेश्वरोऽहमितरैः समुपासितोऽहं
विद्वानहम्मतिमतां बलिनां वरोऽहम्।
वित्तेश्वरोऽहमखिलार्थसमुच्छ्रितोऽहं
नान्यो मयाऽस्ति सदृशो न भवेत्कदापि।।६।।

मिथ्या ममता बढ़ने से मनुष्य अपना व्यापक अधिकार देखने लगता है। तब वह सोचता है कि मैं समाज का स्वामी हूँ, दूसरे लोग मेरी सेवा करते हैं, मैं विद्वानों और बलवानों में श्रेष्ठ हूँ। धनवान् हूँ, सारी सम्पदाओं से मैं सबसे आगे हूँ। न दूसरा कोई मेरे तुल्य है, न हो पायेगा।

एवं ह्यहम्मतिरुदेति विवर्धते च
दर्पाभिधां च लभते चिरभावनाभिः।
दर्पे मनाग् विघटिते घटिते विरुद्धे
क्रुद्धेन शत्रुशमनः क्रियते प्रयत्नः।।७।।

इस प्रकार ममता से अहंकार उत्पन्न होता और बढ़ता है, वही देर तक जारी रहने से घनीभूत होकर दर्प या घमण्ड कहा जाता है। तब उस दर्प में थोड़ी सी बाहरी टक्कर लगने पर यानी अपने उक्त दर्प के विपरीत घटना होने पर उस घटना के निमित्त बने व्यक्ति पर क्रोध होता है, फिर उस क्रोध के पात्र को शत्रु मानकर उसके दबाने के लिए प्रयत्न होने लगते हैं।

मैत्रीं करोत्यरिभिरत्यपरैः परस्य
नाशाय नाशमुपनीय धनञ्च मानम्।
दर्पान्धधीरगणयन्निजनैजहानिं
शत्रून् करोति सुदृढानदृढानसोढ्वा।।८।।

प्रतीकार परायण व्यक्ति दर्प से अन्धा बना रहता है, इससे वह निज वस्तुओं और व्यक्तियों की हानि पर ध्यान नहीं दे पाता। इससे वह अपना धन तो गलत जगह लगाता ही है, दुर्जनों से मित्रता करता हुआ अपने सम्मान को भी दाँव पर लगा देता है। तब वह अपने दुर्बल शत्रुओं का अपराध न सह पा कर उन्हें दबाने के लिए, मित्र जैसे लगने वाले खलों से नया नाता जोड़ता है जो वास्तव में प्रबल शत्रुता का ही नाता होता है।

दर्पान्मदो भवति भावनया चिरेण
येनावमत्य च गुरून् कुपथेषु याति।

हिंसाम्परम्परकलत्रधनापहारं
नारं विनिन्द्य कुमतिः कुरुतेऽविकारम्।।९।।

पिछले श्लोक में दर्प से आत्मघाती हिंसाभाव बढ़ने की बात कही गयी, अब इस दर्प से मद नामक आत्मघाती विकार होने की बात कह रहे हैं। दर्प जब बाधित या शान्त न होकर चिरकाल तक बना रह जाता है तब वह घनीभूत होकर दूध से दही की तरह मद का रूप धारण कर लेता है। वह मद मार्ग दर्शक हितैषी भी बड़े लोगों की उपेक्षा और अपमान कराता हुआ आपराधिक प्रवृत्तियाँ बढ़ाता है। तब वह अपने विरुद्ध समाज की भी उपेक्षा करता हुआ उग्र हिंसा करता है, परायी स्त्री और धन का हरण करता है। यह सब करता हुआ वह कभी तनिक भय या शंका नहीं करता।

हिंसादिदूषणविनिह्नवहेतुभूतं
दम्भं दधाति कपटं श्रयते च मायाः।
मायापतेरपि गुणान् वचसैव जल्पन्
ध्यायञ्जपन्नपि च सज्जनवद्विभाति।।१०।।

आगे चलकर वह अपनी हिंसा आदि अपराधों को छिपाने के उपाय के रूप में सेवा भजन साधना आदि के नाना रूप बनाता है जिससे लोग उसे आदर्श पुरुष मानें और अपराधी होने की सोच भी न पायें। फिर वह लोभ मोह मद मत्सर आदि दोषों से ग्रस्त होता हुआ भी वीतराग सेवापरायण भजनानन्दी जैसा रूप बनाने के कपट करता हुआ नाना भ्रामक रूप बनाता रहता है और सारी मायाओं के एकमात्र स्वामी भगवान् के गुणों का केवल वाणी से बखान करता है, ध्यान करता है, जप करता है इससे वह महाखल होता हुआ भी सज्जन जैसा मालूम पड़ता है। इससे लोगों का ध्यान उसकी बुराईयों की ओर नहीं जाता।

दैवेन शत्रुमरणे स्वमवेति हेतुं
हन्तुम्परानशुभयत्नपरो विलज्जः।
पापापनीतमतिरन्तिममात्मपातं
सिद्धिम्पराम्भणति तुष्यति दुष्कृतेन।।११।।

कोई भी व्यक्ति यदि किसी भी निमित्त से मरता है तो अपने प्रारब्ध से मरता है। सारे प्रारब्धों की अन्तिम कड़ी मृत्यु होती है। यदि कोई एक हजार व्यक्तियों को मारता है तो वह उन हजार लोगों के प्रारब्ध से जुड़ा होने से

ही उन्हें मार पाता है, दूसरों को वह मारना चाहता ही नहीं। ऐसी स्थिति में कोई स्वयं को हन्ता मानता है तो वह उसका अज्ञान ही होता है। उस अज्ञान का उसे बुरा फल भी मिलता है। यही तथ्य ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि शत्रु तो मरता है अपने प्रारब्ध से किन्तु दम्भ दर्प मदग्रस्त व्यक्ति समझता है कि मैंने मारा है। वह दूसरे कई लोगों को मारने का निन्दित प्रयत्न भी करता ही रहता है। उसे कर्मफलों की परवाह नहीं होती न लोकापवाद की चिन्ता होती है। लौकिक अर्थों में गहरी स्पृहा बनकर माया उसकी बुद्धि का हरण किये रहती है इससे वह हिंसावृत्ति रूपी अपने अन्तिम पतन को परम सिद्धि कहता है, वह अपने किये पापों से अनुताप के बदले सन्तुष्टि पाता है।

देहेन तेन च कृतेन चिराद्विमूढ–
स्तत्पोषणैकनिरतः कृतपापपोषः।
अन्धं तमो विशति हन्त चिराय दीप–
स्तेजो बिना तमसि लीन इवावभाति।।१२।।

चेतन का नाना शरीर सम्बन्ध अनादि है। शरीर पर्यन्त में अहम् भाव उसका स्वभाव बन चुका है। करणभूत जड़ शरीर को वह कर्ता माना करता है। उसके सारे कर्म शरीर से ही होते हैं इससे वे कर्म भी शरीर में मोह बढ़ाते हैं। फलस्वरूप वह शरीर का ही पोषण करने में लगा रहता है। इसके लिए वह नाना अपराध भी करता रहता है। जीवन में उसके अपराध बहुत हो जाते हैं। इस प्रकार वह देहाभिमानवश अन्धा बनाने वाले घोर अज्ञान में घुसता जाता है। जैसे अपने प्रकाश से अन्धेरा मिटाने वाला दीपक कभी स्वगत दोषों से अपनी ज्वाला के लुप्त हो जाने से स्वयं अन्धेरे में छिप सा जाता है।

एकैकपातकतुषारकणप्रमुष्ट–
ज्ञानप्रभोऽन्तरवकाशचरोंऽशुमाली।
बम्भ्रम्यते त्रिभुवनेऽनुपलब्धमोक्षो
हन्तेष्यतेऽस्य च कृते परमः प्रकाशः।।१३।।

आकाश में सूर्यमण्डल बहुत दूर–दूर तक अपनी अनन्त रश्मियाँ फैलाता हुआ अन्धकार दूर करता है किन्तु जब वह अपनी नीच राशि तुला में अपनी सहज गतिवश उतर पड़ता है तब उसकी रश्मियाँ धीमी पड़ जाती हैं और कुहरा रश्मियों सहित पूरे सूर्य को अदृश्य बना देता है। कुहरे का प्रत्येक कण सूर्य से ही बना होता है, वह प्रत्येक कण सूर्य की एक रश्मि को दबाता है।

इसी प्रकार हृदयाकाश में उपलब्ध, अपने कर्म मार्ग से त्रिभुवन में विचरण कर रहा चेतन तत्त्व, अपने अशुभ कर्मरूपी तुषार कणों से अपने विशद ज्ञानरूपी प्रकाश के लुप्त हो जाने से स्वयं अपने निकास का मार्ग नहीं पा कर भटक रहा है। स्वयं महान् प्रकाशमय इस चेतन तत्त्व को भी कोई महान् प्रकाश अपेक्षित है जिससे अज्ञान अन्धकार से निकलकर किसी ज्योतिर्मय प्रदेश में पहुँचकर अपने वास्तविक रूप में निर्दोष अवस्था में रहा करे, नित्य मुक्त हो जाये।

विशेष–सूर्य अपनी सहज गति जारी रखता है जिससे अपकर्ष वाली राशियाँ पार करता हुआ अपनी उच्च राशि मेष में प्रवेश करके चण्ड मार्तण्ड हो जाता है, तब सारे विश्व के पोषण के लिए कृषि की भूमिका बनती है। ऐसे ही देह इन्द्रिय मन प्राणों के योग से बिना शास्त्रीय प्रेरणा के भी कर्मों में प्रवृत्त यह चेतन तत्त्व यदि वेदादि शास्त्रों की विधि से कर्ममार्ग में चला करे तो इसके महान् गुणों का विकास होगा, आत्मप्रकाश बढ़ेगा, स्वरूप की प्रतिष्ठा होगी, मुक्ति सन्निहित होगी, समाज के कल्याण की भूमिका भी बनेगी। चेतन तत्त्व की तुलना रूपक अलंकार से होने से इतने अधिक अर्थ भी व्यक्त होते हैं। इसी से अलंकार बहुधा स्वयं चमत्कार बन जाते हैं।

।। अहंकार गुच्छ समाप्त।।

• अथ ममता गुच्छः •

धनम्मे मानो मे सदनममलम्मे समधिय–
स्तनूजा युक्ता मे कुशलगृहिणी मेऽपि सुहृदः।
अहित्वाऽप्यस्वन्ते विपुलमिदमात्मीयमखिलं
सुखी स्यामित्येवं कलयति ममत्वोपहतधीः।।१।।

अपने उपयोग की वस्तुओं और व्यक्तियों का होना अलग बात है किन्तु उनके प्रति ममता या आसक्तिपूर्ण सुखमय भाव अलग होता है। अपने स्वरूप के प्रति सामान्य बोध जितना कम होता है, शरीर से अलगाव अपने ध्यान में जितना कम चढ़ता है, ममता का सुख उतना ही घना होता है, वियोग अवस्था में वही उतना ही घना दुःख बन जाता है। इससे माया, मोह, ममता से बचना एवं इसके लिए सत्संग से, सद्ग्रन्थों से सामान्य रूप से बोध अर्जित करना मानव मात्र का कल्याणमय अनिवार्य कर्तव्य है। इसी भावना से कह रहे हैं कि जिसकी बुद्धि ममता से मारी गयी होती है वह सदा अपने धन, अपने सम्मान, सुन्दर भवन, समान विचार वाले कर्मठ पुत्र, कुशल गृहिणी,

मित्र आदि पर यह मेरा, यह मेरा का भाव बनाये रखता है। वह अपने मरने की बात तो सामान्य रूप से जानता है किन्तु मृत्यु के साथ यह सब छूट जायेंगे यह प्रकट तथ्य अपने मन में बैठा नहीं पाता। शायद वह सोचता है कि मरने के बाद भी यह सब मेरे साथ रहेंगे और मैं इनका ऐसा ही सुख पाता रहूँगा।

जडे देहेऽहंधीस्तदनुगतवर्गेषु ममताम्
प्रसूते दुर्वारामपरिहरसंगञ्च ममता।
प्रसक्तः स्वत्वाढ्ये तदुदयपरित्राणनिरतो
नरस्तत्तद्भावान् भजति निरयं यैः प्रविशति।।२।।

आत्मा नित्य स्वयम्प्रकाश और ज्ञानवान् है, शरीर परिणामी, नाशवान्, केवल प्रमाणों से जानने योग्य और अचेतन है। यदि आत्मा चेतन है तो वह जड़ शरीर नहीं हो सकता। यह तथ्य सर्वविदित है, इससे शरीर में अहम् भाव किसी का नहीं होना चाहिए। किन्तु देह में अहम् भाव ज्ञानियों का भी देखा जाता है। प्रारब्ध बने प्राचीन कर्म अपने शुभाशुभ फलों के उपभोग के लिये देह में अहम् भाव और ममता जारी रखते हैं। वे कर्म ही स्वरूप की विस्मृति भी कराये रहते हैं जिससे विवेक नहीं हो पाता। इसी को वेदान्त में पराभिध्यान (भगवत्संकल्प) कहा गया है। जड़ कर्म चैतन्य रूप भगवत्संकल्प से ही अपने सारे फल देते हैं। उक्त सारे तथ्यों को ध्यान में रखकर कह रहे हैं कि जड़ शरीर में अहम् भाव होने पर शरीर के उपकारक वस्तुओं और व्यक्तियों में ममता होती है। वह ममता ज्ञान के बिना टलती नहीं। ममता दृढ़ आसक्ति बढ़ाती है इससे ममता वाले अर्थों की वृद्धि और रक्षा में मन ज्यादा लगता है तब उसके लिए व्यक्ति छल, कपट, दम्भ, चोरी, हिंसा आदि के भाव बनाया करता है जिससे नरक के दुर्वार क्लेश में प्रवेश करता है।

धनासक्त्या स्तेयं तदभिभवितुं जीवहरणम्।
पिधातुं तन्मिथ्यावचनमथ विश्वासजननम्।
शठो दम्भं कुर्य्याज्जपतिलकदानादिकुहकै–
रहो कामोऽर्थानां कमिव न दुरर्थम्प्रथयते।।३।।

उक्त अर्थ का ही विस्तार करते हुए कहते हैं कि धन में अधिक लगाव होने से उसके उपायों में उचित, अनुचित की समीक्षा नहीं होती तब मनुष्य छोटी, बड़ी चोरी शुरु करता है, जब उस चोरी को कोई पराया देख लेता है

तब भेद खुलने के भय से उसकी हत्या कर डालता है। हत्या को छिपाने के लिए अनेक मिथ्या वचन बोलता है फिर भी लोग जब उसे शंका की निगाह से देखते हैं तो उन पर विश्वास जमाने के उपायों के रूप में माथे पर तिलक लगा कर माला लेकर जप करने लगता है और कुछ दान भी देता है। यह सब देख कर लोग उस पर शंका करना छोड़ देते हैं। इस तरह ममता से आसक्ति और उससे छल, कपट, दम्भ आदि उपाय अपनाता हुआ व्यक्ति दुराग्रही यानी शठ हो जाता है और उत्तरोत्तर अनर्थों की ओर ही बढ़ता हुआ अन्तिम परिणाम निर्ऋति यानी अन्धतामिस्र नामक नरक को प्राप्त करता है तब आज के फिदायीन (पर हिंसा के लिए आत्मघाती) बन कर अनर्थों के लिए बार–बार जन्म मरण के बुरे चक्कर में पड़ जाता है।

विशेष–नरक नामक कोई क्षेत्र होगा। वह स्थूल होगा या अति सूक्ष्म होगा। यह प्रश्न महत्त्व नहीं रखता किन्तु बुरे कर्मों से बुद्धि बिगड़ती है और अगली प्रवृत्तियाँ और भी बिगड़ती जाती हैं, तब बुद्धि और भी बिगड़ती है। तब दूसरों को मारने के लिए स्वयं मरने की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। शुभ अशुभ कर्मों के फल के रूप में स्वप्न की भाँति कोई भी व्यक्ति कहीं भी रहकर शुभ, अशुभ फल पा सकता है। दो मिनट समय को वह करोड़ वर्ष भी आँक सकता है। मरने के बाद कोई रूह यदि कब्र में लाखों साल रह सकती है तो जन्म से पहले भी वह किसी हालत में रही होगी यह मानना कठिन नहीं है। जन्म से पहले की भली, बुरी आदत ही जन्म के बाद मिलती है, यह मानना अच्छा है बजाय अल्लाह को मनमौजी भला बुरा बनाने वाला मानने के।

मनाग्लब्धे किञ्चित्तदधिकधनेप्सा ह्यसुखिन–
स्तदाप्तौ तत्तश्चाधिकतदधिकेच्छा प्रभवति।
तमो हर्तुं दीपं ज्वलयति तदुत्थेन जडधी–
र्दृशं धूमौघेनासुखयति गृहं कज्जलयति।।४।।

पिछले दो श्लोकों में कहा गया है कि मोहवश होने वाली धन की कामना धनलाभ से पहले ही कैसे नरक लाभ करा देती है। अब कह रहे हैं कि कुछ धन मिल जाने के बाद कैसे अनर्थ होते हैं। किसी को कुछ धन मिल जाने पर थोड़ा और अधिक पाने की इच्छा होती है। स्वरूपबोधसुख, शास्त्रबोधसुख और सत्कर्मसुख के अभाव में मनुष्य बन्धु सुख या धनसुख को महत्त्व देता है। धन की कमी मानता हुआ वह दुःखी रहता है। दुःख मिटाने के लिए वह धन वृद्धि के उपाय करता रहता है। उपाय के सफल होने पर

उसकी कुछ और पाने की ललक बढ़ जाती है। तब अनुचित उपायों से लगभग वह पूर्वोक्त अनिष्टों में फंसता जाता है और पूर्वोक्त उत्तम सुखों से दूर हटता जाता है। उसका अन्तःकरण रूपी भवन अनुचित इच्छारूपी धुवें से मलिन होता जाता है और सहज स्वरूपबोध रूपी प्रकाश दबता जाता है। मनुष्य प्रकाश के लिए अपने कमरे में ऐसा दीपक जला लेता है कि उसके धूम से फैलता हुआ अन्धकार उस दीप को ही ढक लेता है और उस अन्धकार में दीपक ही खो जाता है, साथ ही धुएँ से उसकी आँखों में पीड़ा बढ़ने लगती है और वह कमरा प्रकाश के बजाय धुएँ की कालिमा से भर जाता है।

धनी कोपं दर्पादनुपहतकामोऽपि कुरुते
पुरःस्थे दुर्दृष्ट्या भवति कलहस्तेन सुमहान्।
अथो कामः क्षामः क्वचिदपि च वामेन विधिना,
दधद् रोषाग्नित्वं दहति मतिभूती शठधियः।।५।।

धनलाभ का दुष्परिणाम बतलाते हुए कहते हैं कि धन से सन्तुष्टि नामक एक गुण उत्पन्न होता है, वही गुण घना होकर दर्प नामक दोष बन जाता है, इससे अपने में महत्त्व की भावना बढ़ती है तब सामने वाले के गुण खलते हैं। दर्प जब मद का रूप ले लेता है तब गुण स्वीकार नहीं होते। इससे अकारण कलह उत्पन्न होता और मद के कारण बढ़ता ही जाता है। इससे मानना पड़ता है कि काम के बाधित हुए बिना भी क्रोध और कलह होते हैं। महाभारत संग्राम और यदुवंश का घातक आपसी द्वन्द्व भी दर्प से हुआ था। और काम तो किसी न किसी निमित्त से कभी बाधित होता ही है तब वह क्रोध नामक वह अग्नि बन जाता है जिससे पहले बुद्धि जल जाती है और बाद में कल्पित शत्रु के नाश के लिए ज्यादा–ज्यादा धन बहुत ओर बह कर नष्ट हो जाता है, मानो क्रोध की आग में जल जाता है। उस समय मनुष्य शठ हो जाता है, कोई अच्छा सुझाव मानने को तैयार नहीं होता।

अहन्तायां दर्पो भवति ममतायां च स भवेद्
अहन्ता पुष्टा स्याद् विविधममतानां समुदयात्।
ममत्वं वित्तद्धर्या विभवति यथा तत्क्रमवशाद्
अयं दर्पः सार्पः फण इव विनाशाय भवति।।६।।

दर्प से बचाव के लिए उसकी उत्पत्ति के कारण बतलाते हुए कहते हैं कि अहंकार होने से दर्प होता है, वह ममता बढ़ने से भी होता है। क्योंकि

नाना ममतायें अहंकार को मजबूत करती हैं। चेतन अज्ञानवश अपने में जितने भी बाहरी विशेषण पाता है और उन विशेषणों को अज्ञानवश ही अपने हित में पाता है, उसका दर्प उतना ही बढ़ता है। धन सम्पत्ति जैसे–जैसे बढ़ती है वैसे–वैसे ममता का भाव ह्रदय में फैलता है और उसी क्रम से यह दर्प भी साँप के फण की तरह अपने या दूसरों के विनाश का कारण बनता है।

विशेष–दृप् धातु से ''दर्प'' बनता है। इसके अर्थ हैं हर्ष, मोहन, उत्क्लेश और सन्दीपन। चौथा अर्थ रसायन शास्त्र में विशेष चलता है, पहला दूसरा अर्थ पहले आ गया है, तीसरा अर्थ प्रसिद्ध है, दर्प को हिन्दी में घमण्ड कहते हैं। घमण्डी का सम्पर्क सबको खलता है। यह खलना ही उत्क्लेशन है। मानव का कोई भी भाव पहले अच्छा रहता है, धीरे–धीरे वही बिगड़ जाता है। जैसे दूध फटता है या दही बन कर ज्यादा खट्टा हो जाता है। ताड़ का मीठा रस रखे–रखे शराब बन जाता है। इससे मानव को शिक्षा लेनी चाहिए कि कुछ अर्थ शुरु में अच्छा होता हुआ भी आगे बिगड़ सकता है। वह बिगड़ने न पाये इसका ध्यान रखना चाहिए। ध्यान होने से दूध नहीं फटता दही ज्यादा खट्टा नहीं होता। मित्र उदासीन होकर शत्रुपक्ष में नहीं मिलता। स्नेह स्वार्थ बन कर पिशाचत्व नहीं बन जाता। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जो मोक्षमार्ग में भी बड़े काम के हैं।

ममत्वं वित्ताढयो वहति विभवे गाढनिहितं
स चेदन्यं यायादपि नियमतो वाऽनियमतः।
ममत्वच्छेदाद्वा धनविनिमयाद्वा मृदुधियो
विशीर्णः प्राक्स्नेहोऽसुखकरविभेदं जनयति।।७।।

धन से होने वाली अन्य हानि बतलाते हुए कहते हैं कि धनवान् व्यक्ति धन सम्बन्धी अपने अधिकार पर गहरी ममता रखता है। इससे यदि उसका धन किसी दूसरे व्यक्ति को अविधिपूर्वक या विधिपूर्वक भी जाता है तो उसके पिछले अधिकार में बाधा होने से या धन का बदलाव भी हो जाने से उसके कोमल चित्त में धन लेने वाले व्यक्ति के प्रति पहला स्नेह बिखर जाता है और ऐसा एक अलगाव पैदा होता है जो कष्टदायक होता है। धन में ही धनी के प्राण बसते हैं इससे धन का खिसकना भी उसे असह्य होता है।

सुहृद्भ्यो बन्धुभ्यो धनकृतविभेदात्कृशमतिः
स्वतः क्लेशम्भुङ्क्ते न च पुनरवैति प्रतिकृतिम्।

सुहृद्बन्ध्वाधिक्यम्भवति विभवात्किन्तु बहुशो–
ऽनयाद्वित्ताद्भिन्ना रिपुदलमवापुर्निजजनाः।।८।।

धन से बनने वाले अलगाव से मित्रों और बन्धुओं से बिगाड़ हो जाता है तब धनी व्यक्ति की बुद्धि पहले जैसी सक्षम नहीं रह जाती, इससे वह दूसरों की किसी चेष्टा के बिना ही दुःखी रहने लगता है और इस परिस्थिति का कोई प्रतीकार नहीं सोच पाता। धन से मित्रों और बन्धुओं की संख्या तो बढ़ती है किन्तु प्रायः देखा जाता है कि धन से कुछ अन्याय हो जाता है, तब अपने लोग फूटकर शत्रुओं के पक्ष में मिल जाते हैं।

शनैर्भेदे वृद्धे निकृतिमतियुक्ते निजजने
परस्मिन् विश्रब्धे धनहरणमार्गेऽध्यवसिते।
हठाद्वित्ते नीते शठकुहकवर्गेण सहसा
प्रवृद्धो वैराग्निर्ज्वलति चिरमज्ञानसमिधा।।९।।

धन के कारण भावनाओं में होने वाली नाना विकृतियों और अनर्थों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब धीरे–धीरे आपसी अलगाव बढ़ता है और अपने लोग प्रतिशोध का विचार बना लेते हैं और वह धनी व्यक्ति इस बात से बेखबर रहता है एवं धन लूटने का उपाय निश्चित हो जाने पर जब शठ मायावी लोग अचानक धन छीन लेते हैं तब से बैर की आग अज्ञान के ईन्धन से चिरकाल तक जलती ही रहती है। वैर स्वयं क्लेश है, अज्ञान से बढ़ता है, अज्ञान बढ़ाता भी है।

ममत्वाहन्त्वे द्वे सकलकुमतीनां समुदयो
मिथः साह्यं लब्ध्वा हृदयभवने स्तः सुमुदिते।
तयोरेकं कार्श्यम्भजति यदि बोधेन नियमैः
परं नाशं यायान्न चिरमसहायः प्रभवति।।१०।।

देह के उपकरणों में ममता और देह में अहम् भाव ये दोनों स्वरूप बोधके अभाव में होने वाले भाव सारी दुर्बुद्धियों के मूल हैं। ये दोनों भाव परस्पर सहयोग से बढ़तें हैं। ममता ज्यों ज्यों बढ़ती है त्यों त्यों अहम भाव बढ़ता है, अहम् भाव से ममता बढ़ती है। शरीर में अहम् भाव न होने से कोई किसी को अपना पिता, पुत्र, माता या भाई नहीं मान सकता, शरीर का ही जन्म होता है, अजन्मा आत्मा तो वृक्ष पर पक्षी की तरह कभी भी किसी शरीर पर आ जाता है। पक्षी वृक्ष को प्राण नहीं देता किन्तु आत्मा प्राण लिये चलता

है, प्राणों से वह शरीर का सम्वर्धन और सञ्चालन करता है। बीज पर ही आत्मा अनजाने कब्जा कर लेता है। जैसे पौधे आत्मा से उगते ओर बढ़ते हैं वैसे ही मानव आदि शरीर भी गर्भ में बनते और बढ़ते हैं। बीज में अनन्त शक्ति परमात्मा का वास होता है ''यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन'' गीता १०। वे अपनी अचिन्त्य आकर्षण शक्ति से उपयुक्त चेतन को बीज में आकृष्ट करते हैं और उसके प्राणों के द्वारा जड़ बीज को विकासशील और चैतन्यमय बना देते हैं ''जन्माद्यस्य यतः'' ब्र. सू., भागवत। यहीं चेतन और परम चेतन का साहचर्य लक्षित होता है। इसे समझने पर ही भक्ति का बीज अंकुरित होकर विकसित होता और मोक्ष का मार्ग मिलता है।

ममता और अहम् भाव के परस्पर साहचर्य का प्रतिफल है यह सारा संसार। परस्पर साहचर्य से दोनों बढ़ते हैं। तत्त्वबोध और सत्कर्मों की निरन्तरता से यदि कोई एक दुर्बल होता है तो दूसरा नष्ट हो जाता है। सहयोग के बिना कोई भी एक ठहर नहीं पाता।

ममत्वं स्वात्मान्तं हरिचरणयोरर्पयति य–
स्तदीयाऽहन्ताऽपव्रजति नियमेन स्वयमिव।
अथो भिन्नं नित्यं चितितनुभजस्त्रं कलयतः
स्वरूपं चित्तान्ताः सकलममता यान्ति विलयम्।।११।।

ममता दूर करने के उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति अपने आप तक सारी ममताओं को यानी जिन–जिन वस्तुओं को अपना मानता हो उन सबको भगवान् के चरणों में समर्पित करता है यानी उनके ही उपयोग के लिए मानता हुआ स्वयं के लिए उनका कभी कोई उपयोग न माना करे तो उसकी ममतायें तो हटेंगी ही, सारा अहंकार भी स्वयं दूर हो जाता है। ममता के अभाव में अहंकार टिक नहीं पाता। और यदि कोई स्वयं को देहादि से भिन्न, नित्य ज्ञानस्वरूप सदा माना करे तो उसकी सारी ममतायें नष्ट हो जायेंगी, साथ ही उसका चित्त भी नहीं के बराबर रह जायेगा।

।। ममता गुच्छ समाप्त।।

• अथ सन्निकर्षगुच्छः •

रतिरुदयति पार्श्वे स्निग्धपिण्डे नराणाम्
मधुघृतपयसां वा मांसजे गौमये वा।
न तु नभसि निविष्टे ह्लादिपीयूषपिण्डे
तदखिलविषयाणां सन्निधिर्दोषहेतुः।।१।।

चाहे कोई भी विषय हो, निकटता से उसमें अनुराग या विद्वेष होता है। निकटता ही विषयों का बड़ा दोष है, उससे बचने का यत्न करना चाहिए, यह समझाने के लिए कहते हैं कि जो चिकना हो, अच्छा लगता हो, पास में हो, वह पिण्ड मधु से लिपटा हो, घी का बना हो, दूध का बना हो या माँस का पिण्ड हो, जीवित या मृत, या गोबर का ही कोई गोला हो उसमें प्रीति होती है किन्तु आकाश में टिका सुन्दर कोई अमृत का गोला चन्द्रमा भी हो तो उसमें, प्रीति नहीं होती इससे यह मानना पड़ता है कि सारे विषयों के दोषों में मुख्य कारण निकटता ही है।

कमलकमलबन्ध्वोश्चन्द्रवार्ध्योः प्रसिद्धा
रतिरतिविरहे तज्जाड्यमत्रास्त्युपाधिः।
न हि सहृदयचित्ते दूरगे स्यात्प्रसक्ति–
र्निकटविषयतुल्ये त्विष्यते साऽन्तराले।।२।।

कमल और सूर्य या चन्द्रमा और समुद्र में आकर्षण यहाँ विरोधी दृष्टान्त नहीं हैं। यह बतलाते हुए कहते हैं कि उक्त दोनों में तो जड़ता है, वहाँ केवल भौतिक आकर्षण है। यहाँ मानस आकर्षण की बात कही जा रही है। वासना प्रधान चित्त में दूरस्थ के प्रति आकर्षण नहीं होता। किन्तु मनन चिन्तनों से वासना का उद्रेक (प्रबलता) होने पर दूरस्थ में भी प्रीति होती है। इसीसे गोस्वामी तुलसीदास को मायके में रह रही पत्नी के प्रति महान् प्रीति हुई और खतरनाक उपायों से भी वे रात में ही उसके पास चले गये। रुक्मिणी ने दूरस्थ वल्लभ कृष्ण के पास ब्राह्मण को दूत बना कर भेजा। सभी भक्त अदृश्य भगवान् के विरह में छटपटाते हैं। किन्तु वह प्रीति निकटता बना लेती है, बाद में या तो प्रेमपात्र पास आ जाता है या प्रेमी ही उसके पास पहुँच जाता है।

घृतहुतवहतुल्यः सन्निधौ चित्तदोषो
भवति तदतिदूरे स्थातुमिच्छन्ति सन्तः।

विषयविषयिमध्ये भूरिदोषोऽपरस्मिन्
स तदनुभवभूम्ना दूषयेदाशु चित्तम्।।३।।

जैसे आग के निकट होने से घी पिघलता ही है वैसे विषय के निकट होने से चित्त तरल (चञ्चल) हो ही जाता है। इसीसे सत्पुरुष विषयों से दूर ही रहना चाहते हैं। विषय और चित्त के मध्य ज्यादा दोष चित्त में ही होता है। निकटता में विषय का अनुभव बढ़ता है और चित्त में दोष (राग) आ जाता है।

यमनियमपराणां सन्निधौ वैरहानि–
र्भवति वनमृगाणां चित्तधर्मोऽत्र हेतुः।
तदिव विषयसीधुस्वादमुग्धान्तराणाम्
भवभयरहितानां सन्निधिर्दोषहेतुः।।४।।

जैसा संग वैसा रंग की युक्तियाँ बतलाते हुए कहते हैं कि यमनियमपरायण अहिंसा प्रधान जीवन वाले तपस्वियों के निकट रहने वाले वन के मृगों में आपस का वैर नष्ट हो जाता है। इसमें तपस्वियों के चित्त का धर्म काम करता है ऐसे ही विषयरूपी मदिरा के स्वाद से जो लोग मोहित हैं, जिन्हें संसार का भय नहीं होता ऐसे लोगों के निकट वास होने से उनके विषयी चित्त का बुरा प्रभाव अच्छे लोगों पर पड़ता है। उनसे दूर ही रहना चाहिए।

परिणतिविरसत्वं क्लेशरागावहत्वं
क्वचिदपि विषमत्वं सर्वभोगेषु तुल्यम्।
तदिदमवदधानाः सन्निधौ विस्मरन्तो
विषमविषयतापक्लान्तचित्ताः पतन्ति।।५।।

साधकजन जानते हैं कि विषय सारे ही परिणामी होते हैं। परिणाम के बाद उनमें पहले वाला आकर्षक रस नहीं रह जाता। इनमें दूसरा दोष यह होता है कि ये चित्त में राग उत्पन्न करते हैं। राग की गणना क्लेशों में होती है। राग क्लेश की ही एक अवस्था होता है। विषय की उपलब्धि तो क्षणिक होती है किन्तु राग सदा बना रहता है। यानी दुःख बेहिसाब और सुख थोड़ा सा होता है। तीसरा दोष विषयों का यह है कि ये किसी भी देश, काल, अवस्था में विपरीत हो जाते हैं। ये सदा ही सेवन योग्य नहीं रहते। इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। विज्ञ जन जानते हैं। इन तीनों विपुल दोषों के बारे में सभी साधक जानते हैं, किन्तु विषय के निकट होने पर भूल जाते हैं और निकटता में भी अलाभ रूप ताप से उनका चित्त मुरझा जाता है, लक्ष्य को

सम्हालने को स्थिति में नहीं रहता, तब वे लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं और समाज की दृष्टि में भी भ्रष्ट हो जाते हैं।

व्रतनियमपराणां शास्त्रविन्निर्जराणाम्
हरिपदनिरतानां नित्यनिर्मत्सराणाम्।
क्षणमपि विषयाक्तस्वान्तसान्निध्ययोगाद्
भवति पतनमन्तस्तापगर्ते दुरर्थे।।६।।

संसारियों की संगति क्षणभर में पतन कराती है इससे उत्तम मुमुक्षुओं को भी उनसे बचकर रहना चाहिए यह सूचित करने के लिए कहते हैं कि जिनका जीवन व्रतों और नियमों में ही बीतता है, जो शास्त्रज्ञ होने से देवता बन चुके होते हैं, जो भगवान् के चरणों का ही चिन्तन करते रहते हैं इस कारण कभी किसी से ईर्ष्या नहीं करते, ऐसे लोगों को भी यदि क्षणभर भी विषयी लोगों का संसर्ग मिल जाता है तो विषय स्पृहा रूपी मानसिक तापरूपी गड्ढे में वे भी गिर जाते हैं जिसका परिणाम दूर तक बुरा होता है। वे साधना भूल कर विषय लाभ की चेष्टाओं में लिप्त होकर संसारी हो जाते हैं।

तृणचरहरिणा वा वारिमध्येऽपि मीनाः
कुसुमदलफलाढ्याः पादपा वाऽपि नद्यः।
भगवदितर दृष्ट्यावातवत् साधुचित्ते
गगन इव घनौघम् मोहमालां सृजन्ति।।७।।

भगवद्भक्ति के अभाव में जगत् की सारी वस्तुएँ मोह ही मोह उत्पन्न करती हैं, इससे भक्तिके उपाय यानी श्रवण, कीर्तन आदि साधन भक्ति का अनुष्ठान करना चाहिए यह सूचित करने के लिए कहते हैं कि घास चरने वाले मृग भी, पानी में रहने वाली मछलियाँ भी, फूल पत्तों और फल वाले वृक्ष भी, नदियाँ भी जब तक भगवान् से अन्य कुछ दिखता रहता है तब तक जैसे हवा का झोका आकाश में मेघों की कतारें उत्पन्न करता है वैसे साधक के चित्त में मोह का सिलसिला उत्पन्न करती रहती हैं। इस जगत् में मोह होना स्वाभाविक है। जो लोग उपाय करते हैं, वे ही मोह से बचते हैं और परमार्थ पथ का दर्शन अनुसरण और आत्यन्तिक कल्याण प्राप्त करते हैं।

न भवतु विषयाणां सन्निधिः किन्तु चित्ते
सुचिरविषयसेवासम्भवो वासनौघः।

सुरधनुरिव मिथ्याऽऽडम्बरं कल्पयित्वा
व्यथमति तत ईशो दृश्यतां सर्वरूपः।।८।।

विषयों से दूर रहने पर भी प्राचीन वासनाओं से मोह और पीड़ायें होती हैं। इससे बचाव के उपाय हर व्यक्ति को करना आवश्यक होता है यह बतलाने के लिए कहते हैं कि भले ही पास में विषय न हों किन्तु पिछले जन्मों के चिरकाल तक विषय सेवन से होने वाला वासनाओं का समूह इन्द्रधनुष की तरह दूर से दिखने वाले रंगों के झूठे जमाव जैसा विषयों का काल्पनिक आडम्बर तैयार करके अकारण दुःख उत्पन्न करता रहता है। इससे बचाव के लिए विश्व के सारे रूपों को ईश्वर का ही मानने और देखने का अभ्यास करना चाहिए।

यदवधि बहुभेदं विश्वमीक्षेत साधु–
र्हरिमखिलपदार्थाकारिणं नेक्षते च।
तदवधि नियमानां वा यमानां न शक्ति–
र्भवति विषयजालान्मोक्तुमन्तर्मृगेन्द्रम्।।९।।

वास्तव में अद्वैतदर्शन के बिना आत्मकल्याण के सारे साधन विफल रहते हैं, यह सूचित करते हुए कहते हैं कि कोई भी मुमुक्षु साधक जब तक जगत् को केवल नाना भेदों से ही युक्त देखता है, उनमें कोई परमार्थ अभेद नहीं देख पाता, वह यह कभी नहीं सोच पाता कि ये सारे भेदों वाले आकार अकेले मेरे प्रभु ही धारण किये हैं, तब तक उसके सारे यम नियम उसके स्वरूपभूत प्रत्यक् तत्त्व रूपी मृगराज को विषयों के जाल से छुडाने में सक्षम नहीं होते। एकमात्र प्रभु का समग्र जगत् में समग्र आधिपत्य जब तक समझ में न आ जाये तब तक वासनाओं का क्षय नहीं होता, भेद दृष्टि नहीं जाती और भवबन्धन शिथिल भी नहीं होता। छूटने की बात तो बहुत दूर होती है। शरणागति निष्ठा हो जाने पर सारे दोष हट जाते हैं। यह विषय किसी सदाचार्य से समझा जाता है।

जगदिदमयथार्थं केचिदाहुर्यथार्थं
द्वयमिदमयथार्थं विष्णुतादात्म्यहानात्।
जगति सकलरूपाण्येतदात्मानि वेदः
प्रथयति तदुपेक्षा मोक्षमार्गानपेक्षा।।१०।।

अद्वैत दर्शन के लिए कुछ लोग इस जगत् को मिथ्या कहते हैं किन्तु कुछ लोग इसे सत्य ही मानते हैं। ये दोनों मान्यतायें गलत हैं, क्योंकि कोई भी पक्ष इस जगत् को विष्णुतादात्म्य से युक्त यानी ब्रह्मात्मक नहीं मानता। जब कि वेद समझा रहा है कि जगत् के सारे रूप परामात्मा के ही आकार हैं, किन्तु लोग इस महान् प्रकट तथ्य की उपेक्षा किये रहते हैं, उनकी यह उपेक्षा मोक्ष के उपाय की उपेक्षा है। क्योंकि उक्त अद्वैत दृष्टि मोक्ष का प्रमुख उपाय है।

भवतु विविधभेदा नः प्रतीतिस्त्रिलोक्याम्
भगवदनतिरेकान्नाद्वयत्वन्तु भग्नम्।
दलफलसुमशाखास्कन्धमूलादिभिन्नो
भवति तु तरुरेको लोकसौख्यैकहेतुः।।११।।

जब तीनों लोकों में भेद ही भेद देखा सुना जाता है तो उसके विरुद्ध अभेद की कल्पना वेद भी कैसे करा सकता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वेद हमारे प्रत्यक्ष अनुमान आदि अनुभवों को झुठलाता नहीं है बल्कि वह तो वह तत्त्व हमें बतलाता है जिसे हम वेदों के बिना दूसरे किसी भी उपाय से नहीं जान सकते और जिसे जान लेना आत्मकल्याण के लिए अति आवश्यक है। प्रतीयमान सारे भेदों में भगवदात्मकतारूप एक महत्त्वपूर्ण अभेद भी रहता है, उसे देखना आवश्यक है। सारी वस्तुओं में अन्तर्यामी रूप से परमात्मा रहते हैं, सबका नियमन करते हैं, सबसे एक आनन्द का अनुभव भी करते हैं। वस्तुओं और व्यक्तियों में प्रधानता उनकी ही होती है। इससे यदि कोई व्यक्ति हमारी बात मान लेता है तो वह प्रभु की कोई कृपा होती है और यदि नहीं मानता तो वह प्रभु की ही अनिच्छा होती है, यह जान कर हमें असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए बल्कि सर्वत्र प्रभु की उपस्थिति और सक्रियता जानकर प्रसन्न और पुलकित होना चाहिए, क्योंकि प्रभु स्वयं में अत्यन्त निरपेक्ष होते हुए भी केवल हम जीवों के कल्याण के लिए ही जगत् की सारी गतिविधियाँ चलाते रहते हैं। जगत् में एकत्वदर्शन में वृक्ष का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि पत्तों, फलों, फूलों, डालों और स्कन्धों से भिन्न होता हुआ भी वृक्ष उनसे मिलकर एक ही होता है जो सब को सुख पहुँचाता रहता है। ऐसे ही प्रभु भी सारे भिन्नरूपों से मिलकर एक ही हैं जो सबको सारे सुख देते रहते हैं।

युवतिरतुलभूषावेशरूपाऽपि यूनो
यदि भवति समक्षं विक्रियाऽन्यस्य न स्यात्।

तदिव भगवदीक्षासन्निधिव्याप्तलोके
क्व नु घटयतु रागं कं नु मोहं विपश्चित्।।१२।।

तत्त्वदर्शी को जगत् में कहीं भी रागद्वेष नहीं होता, यह तथ्य स्त्री दृष्टान्त से दर्शाते हुए कहते हैं कि माना कि कोई युवती बहुत सुन्दर और सजी सजायी भी हो, किसी भी युवक का मन मोह सकती हो किन्तु यदि वह अपने प्यारे युवक के समक्ष हो तो दूसरे किसी का मन विकृत नहीं होगा, ऐसे ही सर्वभोक्ता भगवान् की निकटतम दृष्टि और निकटतम स्थिति से युक्त सारे संसार में इस तथ्य को जानने वाले विज्ञ को कहाँ राग हो सकता है या कहाँ द्वेष हो सकता है। हम भगवान् की व्याप्ति दृष्टि और नियन्त्रण एवं सर्वत्र सदा उपभोग की बात भूल कर ही नाना अनर्थों में लिप्त होते रहते हैं।

।। सन्निकर्ष गुच्छ समाप्त।।

• अथ दम्भ गुच्छः •

धर्मम्प्रचारयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
वित्तं विवर्धयति सत्सुकरोति मैत्रीम्।
द्वेष्यप्रणाशनविधौ च करोति साह्यं
किं किं न साधयति लोभहतस्य दम्भः।।१।।

लोभ से जिसका ईमान मारा जा चुका होता है, जो केवल दिखावे के लिए, समाज की आँखों में धूल झोंकने के लिए धर्मानुष्ठान की नकल करता है वह दम्भी कहा जाता है और दिखावे के उसके सारे काम दम्भ कहे जाते हैं। दिखाई पड़ने वाले उस दम्भ के फल बतलाते हैं कि वह दम्भी के धर्म का प्रचार करता है, दिशाओं में यश फैलाता है, धन बढ़ाता है, सज्जनों में मित्रता बढ़ाता है, यहाँ तक कि शत्रु के नाश में भी सहायता करता है, इस तरह लोभ के मारे व्यक्ति का कौन कौन काम, दम्भ नहीं करता ? यदि अगला परिणाम न सोचा जाये तो दम्भ के बहुत से अच्छे फल हैं।

मत्स्यार्थिनो बकयतेरनुगा महान्तो
राष्ट्रप्रियाः सुकृतिनः श्रुतिशास्त्रभक्ताः।
यत्कुर्वते प्रतिदिनम्प्रथिता जगत्यां
दम्भोलिरेष सुकृतेः प्रथितोऽस्ति दम्भः।।२।।

मछली पकड़ने के लिए ध्यान जैसी तत्परता बरतने वाले बगुला योगी का अनुगमन करने वाले कुछ बड़े लोग जो राष्ट्रप्रेमी पुण्यात्मा और वेदादि शास्त्रों के भक्त माने जाते हैं वे प्रतिदिन जो कुछ करते हुए जगत् में प्रसिद्धि पाये होते हैं वही दम्भ कहा जाता है जो कि आगे पीछे के पुण्यों का नाश करने के लिए वज्रतुल्य होता है। दम्भी के सारे पुण्य समाप्त होते हैं क्योंकि वह अपने योजनाबद्ध पाप की पूर्ति के लिए ही स्वर्गादि शुभ फलवाले पुण्य कर्मों का अभिनय करता है।

नात्रास्ति शास्त्रनियमो न च धर्मभीतिः
प्रीतिर्न दैवतगुरुष्वपि नापि नीतिः।
यस्मिन् कृते सुकृतमेतदिति प्रतीति–
र्लोकस्य तस्य करणे ध्रियते सुरीतिः।।३।।

दम्भ का शास्त्रीय धर्म से भेद बतलाते हुए कहते हैं कि इसमें शास्त्रों का कोई नियम माना नहीं जाता, न धर्म के बिगड़ने का भय रहता है, न इसमें किसी देवता या गुरु पर श्रद्धा होती है, न कोई व्यवस्थित नीति होती है। इसमें तो जो कुछ करने से समाज समझता है कि यह पुण्यकार्य हो रहा है बस वही करने की अच्छी विधि अपनायी जाती है।

मिथ्येष्टिभिर्निरयमध्यगतः प्रहार–
दाहादिमूर्च्छितमनाः सुचिराप्तबोधः।
दम्भी जगाद हरिरत्र यथा प्रकाशः
शून्यात्मना त्रिभुवने न तथा कुतोऽपि।।४।।

दम्भी नरक जाकर भी वहाँ दम्भ फैलाता है यह सूचित करते हुए कहते हैं कि दिखावे के यज्ञादि करके नरक के बीच पहुँचा दम्भी जब मारा, पीटा गया जलाया गया जिससे चिरकाल मूर्च्छित रहा और बहुत देर से होश में आया तब बोला कि यहाँ पर भगवान् जैसे शून्यरूप से मिलते हैं वैसे तीनों लोकों में कहीं भी नहीं मिलते। दम्भी नरक को भी उपयोगी बताता है कि लोग यहाँ आने के उपाय करें। पापी दण्ड पा कर भी पाप नहीं छोड़ना चाहते।

कृत्ये फलेऽपि विरुचिः परवञ्चनार्थं
सत्कर्मवत्किमपि कर्म यदारभेत।
तद्वास्तवप्रसवशून्यतयाऽर्थशून्यं
जन्म प्रपद्य फलमस्य भुनक्ति दम्भी।।५।।

दम्भी का अगला जन्म सुख साधनों से रहित होता है यह सूचित करते हुए कहते हैं कि दम्भी को न तो सत्कर्म में कोई रुचि होती है न उसके शुभ फल में रुचि होती है, फिर भी लोगों में अपनी प्रतिष्ठा जमाने मात्र के लिए शुभ कर्मों की नकल मात्र करता है। इसका फल भी उसे वैसा ही मिलता है। उसे अगले जन्म में कोई शुभ फल नहीं मिलता। कमाई न होने से फल कहाँ से मिले। इससे दम्भी का अगला सारा जीवन भी सूना का सूना ही रह जाता है।

बाला यथा कुतुकिनोऽनुकृतिप्रवीणाः
क्रीडार्थमेव जपयज्ञतपांसि कुर्युः।
प्रौढास्तथैव परवञ्चनमुद्दिशन्तः
कर्मानुगम्फलयुगं क्रमशो लभन्ते।।६।।

जैसे बच्चे नकल की सहज प्रवृत्ति से खेल के रूप में जप, यज्ञ, तप आदि करते हैं वैसे ही कुछ दुर्बुद्धि प्रौढ़ लोग दूसरों को धोखा देने के उद्देश्य से, उन्हें स्वयं को धर्मशील समझाने के लिए, जप, यज्ञ, तप आदि करते हैं। इन प्रौढ़ों को अपने कर्मों के तात्कालिक और पारलौकिक शुभ अशुभ दोनों फल मिलते हैं। बच्चों का तो मनोरञ्जन मात्र होता है।

विशेष–यहाँ जानने योग्य बात है कि धर्म आठ रूपों में होता है। यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, धृति, क्षमा और अलोभ। इनमें प्रथम चार दम्भ के रूप में भी होते हैं किन्तु अगले चार महान् पुरुषों में ही होते हैं। श्लोक–

इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति।

वैगुण्यमेव सुकृतेष्वलमर्थहान्यै
तत्रापि वञ्चनमतिं यदि कोऽपि धत्ते।
तस्मै फलं गरलमिश्रकदन्नतुल्यं
तत्कर्म यच्छति विमोहमकालमृत्युम्।।७।।

पुण्य कर्म में थोड़ी त्रुटि होने मात्र से फल बिगड़ जाता है उस पर भी यदि कोई कर्ता दूसरों को धोखा देने की नीयत बना लेता है तो उसे उसके कर्म का जो फल मिलता है वह विष मिले मोटे अन्न की भाँति मिलता है। वह

फल ज्यादातर अज्ञान और अकालमृत्यु के रूप में होता है। धोखे का फल धोखा ही होता है।

ये दम्भिना विरहिताः कुनयैः पुमर्थे–
यावन्मितैस्तदनुपातगपातकानि।
तेषां समेत्य निरये परिदेवयन्ति
यावन्न तत्प्रतिफलम्परिपूरयन्ति।।८।।

दम्भी व्यक्ति दूसरों को धोखे में डाल कर उनका धन आदि लेता है। वह जितने लोगों से जितना धन जितने समय तक लेता रहता है उसके अनुपात से ही उसके सारे पाप मिलकर नरक में उसे पीड़ा देते हैं जब तक कि उसका बदला पूरा न हो जाये। चूँकि कर्मों के संस्कार अन्तःकरण में होते हैं, वे शरीर छूटने पर आत्मा के साथ उसमें रहते ही हैं और समय आने पर अपने शुभाशुभ फलों के साधन स्वयं बना लेते हैं।

दौर्बल्यमेव भविनाम्मनसोऽस्ति दम्भो
नोऽमायया हतबलाः श्वसितुं क्षमन्ते।
येऽमायमीशचरणौ शरणं श्रयन्ते
मोक्षाय ते कलुषवार्धिमलम्प्लवन्ते।।९।।

दम्भ कोई पौरुष नहीं है, कोई गुण नहीं है बल्कि वह तो मन की एक दुर्बलता है जिससे कि बलहीन लोग माया के बिना एक सांस भी ले नहीं पाते। किन्तु जो लोग त्रिगुणों से छूटने के लिए निष्कपट भाव से भगवान् के चरणों का वरण करते हैं वे अनायास पाप के समुद्र को पार कर लेते हैं। शरणागति के बाद वह बल आ जाता है जिससे त्रिगुणों को पार करने जैसा अति कठिन कार्य भी सरल हो जाता है।

हे दम्भ ! मित्र भवता सुचिराय साह्यम्,
मह्यं कृतं सुकृतिनां गणनाय मध्ये।
तेषाम्पदन्तु भवताऽऽक्रमितुं न शक्यं
स्थेयं तदत्र ससुखं जड़लोकमध्ये।।१०।।

ऊपर उठने के लिए क्षुद्र अर्थों और भावों का त्याग करना पड़ता है। दम्भ एक अति क्षुद्र भाव है। ऊपर उठते लोग इसे क्षुद्रों के बीच ही छोड़ जाते हैं। जाते समय उसे जो कुछ कहते हैं वह कहा जा रहा है कि हे दम्भ मित्र ! आपने मुझे बहुत काल तक पुण्यात्माओं के बीच गिनाने के लिए

सहयोग पहुँचाया। किन्तु आपके द्वारा उन पुण्यशीलों को मिलने वाला पद तो मिल नहीं पायेगा, इससे आप आराम से यहीं मूर्ख समाज के बीच निवास करिये। दम्भ दोष सब के जीवन में सूक्ष्म अवस्था में रहता है। इस पर सूक्ष्म दृष्टि डालते रहना और तिल–तिल कर इसे छोड़ते रहना मुमुक्षुओं की दिनचर्या होती है।

।। दम्भगुच्छ समाप्त।।

• अथ ईर्ष्या गुच्छः •

मत्सर और ईर्ष्या में थोड़ा अन्तर है। मत्सर दूसरे की अच्छाई का विरोध कराता है जब कि ईर्ष्या किसी भी अच्छाई में अरुचि पैदा करके ईर्ष्यालु को उस अच्छाई से विमुख कर देता है। कुछ छात्र स्कूल की खिड़की और फर्नीचर तोड़ डालते हैं। उन्हें शिक्षा से चिढ़ होती है किन्तु चिढ़ वाले अधिकांश छात्र विध्वंस के लिए भी स्कूल न जा कर कहीं जुआ खेलते रहते हैं। यह दूसरा वर्ग ईर्ष्यालु है जब कि पहला मत्सरी। ईर्ष्या और मत्सर के बीच असूया का क्रम है। असहन ईर्ष्या है, वह बढ़ती है तब गुणों में दोष ढूँढ़ा जाता है, न मिलने पर आरोपित किया जाता है। आगे बढ़ी ईर्ष्या उन सच्चे झूठे दोषों को गुणों के नाश में लगाया करती है। यही प्रवृत्ति मत्सर है।

लोकस्य जन्मस्थितिनाशहेतून् लोकेश्वरो लोकगतांश्चकार।
मोहश्च रागश्च कलिप्रियेर्ष्या जन्मादिहेतुः सदसत्फलानाम्।।१।।

लोकों के स्वामी परमात्मा ने लोक के अन्दर होने वाले जन्म रक्षा और नाश के कारणों को लोक में ही बना रखा है। जहाँ कार्य होते हैं वहीं कारण भी होते हैं। इसी से मानव में मोह राग और कलि की प्यारी ईर्ष्या शुभ अशुभ फलों के जन्म रक्षा और नाश के कारण होते हैं। जन्म प्रायः राग से, रक्षा मोह से और ध्वंस ईर्ष्या से होता है। यहाँ प्रथम दो दृष्टान्त हैं, ईर्ष्या दार्ष्टान्तिक है।

आलस्यतो वाऽप्यविवेकतो वा स्वोत्कर्षमोहाद् दुरितातिरेकात्।
यच्चेतसा नाद्रियते प्रकर्षं नरस्तदीयोऽवगुणः किलेर्ष्या।।२।।

कुछ बालक आलस्यवश शिक्षा का गुण स्वीकार नहीं करते और अशिक्षित रह जाते हैं, दूसरे शिक्षा और अशिक्षा में भेद नहीं कर पाते इससे अशिक्षित रह जाते हैं। कुछ तो अनुशासन में रहना अपनी तौहीनी मानते हुए अपने मिथ्यागौरव के मोह में रह कर शिक्षा से वञ्चित रह जाते हैं। कुछ

लोगों के पाप इतने अधिक होते हैं कि वे शिक्षा या विकास के अन्य साधनों का महत्त्व सोच नहीं पाते। ऐसे स्वयं के और दूसरों के भी जीवन में विकास के साधनों और गुणों का महत्त्व उक्त किसी भी कारण से न मान पाना एक दुर्गुण है जिसे ईर्ष्या कहते हैं।

स्वोत्कर्षविष्कम्भमिवावगच्छन्नरः परोत्कर्षमसह्यरोषः।
यत् तत्र दोषानसतोऽधिरोप्य मुधा विजल्पत्यलमीर्ष्यया तत्।।३।।

कुछ लोग दूसरों की बड़ाई सुनकर ज्यादा कुपित हो जाते हैं। वे मानने लगते हैं कि इससे मेरी बड़ाई घट रही है। तब वे उस दूसरे पर झूठे दोष मढ़ कर व्यर्थ ही जोर–जोर से बकने लगते हैं। लोग उनके झूठे आरोपों से सहमत नहीं होते फिर भी वे अपनी ओर से बकते ही रहते हैं। ऐसा ईर्ष्या से ही होता है। ईर्ष्या से मत्सर भी उत्पन्न होकर दूसरों की बुराई कराने लगता है।

अहम्महीयान् भुवि नाऽपरोऽत्र जन्तुस्त्रिकालेऽपि भवेदियं धीः।
सुप्ता समेषां, कुधियां विशेषाद् ईर्ष्यादिदोषान् कलहन्तनोति।।४।।

हर व्यक्ति के हृदय में यह भाव धुन्धला सा छिपा होता है कि मैं बहुत महान् हूँ, पृथ्वी पर मेरे जैसा दूसरा न है, न था न होगा। यद्यपि कोई व्यक्ति स्वयं ऐसा दावा करता नहीं पाया जाता किन्तु व्यवहारों से उसके इस भाव का पता चलता है। इस भावना का मूल चेतन तत्त्व की वह महानता है जिससे वह सारी प्रकृति का नियमन और उपभोग कर पाता है। संसार अवस्था में पुरुष को प्रकृति उसके प्रारब्ध के अधीन बहुत सीमित ही मिलती है किन्तु चेतन इस सीमाबन्धन को औपाधिक होने से हृदय से स्वीकार नहीं करता। वह तो परमेष्ठी से भी स्वयं को महान् मानना चाहता है। परमेष्ठी से ऊपर बहुत कुछ है ही, उसका नियमन और उपभोग कुछ पुरुष ही करते हैं। उन पुरुषों से स्वयं को कम मानने को कोई तैयार नहीं होता। चेतन तत्त्व में ऊँच–नीच अवस्थायें होती ही नहीं। वह तो प्रकृति का धर्म है जिसे चेतन अपने हृदय से स्वीकार नहीं करता। बहुत धुन्धला यह भाव ही चेतनमात्र का मुमुक्षुत्व है। अज्ञान से यही सारे कलहों का बीज भी बनता है। प्रकृतिबन्धन में स्थायित्व की कल्पना ही अज्ञान है। प्रकृतिबन्धन में मोह जितना ज्यादा होता है, अज्ञान उतना ही घना और घातक होता है। संसार के सारे संग्राम इसी ने कराये हैं, आगे भी होंगे। शाश्वत चेतन और परिणामी प्रकृति के

अनादि सम्बन्ध से बनती, बिगड़ती यह महानता की भावना ही ईर्ष्या मत्सर आदि दोष और इसके फल कलह, हिंसा, विनाश आदि के रूप लेती है।

सोऽयं गुणः सद्गुणवृन्दहारी प्रायेण लोकस्य विनाशकारी।
व्याप्तं समन्तात् परमात्मतत्त्वं संकल्पदोषैः परितः पिधत्ते।।५।।

शाश्वत चेतन तत्त्व का सहज स्वभाव होने से यद्यपि यह महानता गुण है फिर भी प्रकृतिसंसर्ग के कारण यह दोष बन जाता है, बहुत से अन्य दोष भी उत्पन्न करता है, अच्छे कल्याणकारी सारे गुणों को दबाता है, यही प्रायः जगत् का नाश करता है। यह एक और बड़ा अनर्थ यह करता है कि अधूरा अहम् भाव और झूठी ममता उत्पन्न करके जगत् के सम्बन्ध में दृष्टिकोण बिगाड़ देता है जिससे परमात्मा की सर्वत्र व्याप्ति और सक्रियता की ओर ध्यान जाने नहीं देता। परमात्मा हमारे साक्षात्कार का विषय नहीं है फिर भी घटनाओं से अनुमान तो हो ही सकते हैं, उन्हें भी यह विकृत महानता रोकती रहती है। अपने दोष मिटाइये। परमात्मा की ललित लीलायें देखिये।

ईशो जनं स्वम्मनुते जनस्तु ब्रह्माहमेवेत्यभिमानबद्धः।
चिरान्मृषाऽर्थाननु बम्भ्रमीति सोऽयं गुणस्यास्य महान् प्रभावः।।६।।

पिछले श्लोक में जिस घातक महानता की बात कही गयी है, उसे दूसरे शब्दों में ब्रह्मभाव भी कह सकते हैं। यह शब्द वेदान्त ग्रन्थों में मिलता है इससे आदरणीय है किन्तु यह तीन रूपों में मिलता है। पहला तो औपनिषद ब्रह्मभाव है जिसकी अभिव्यक्ति ''तद्धैतत्पश्यनृषिवामदेवः प्रतिपदे, अहम्मनुरभवं सूर्यश्च'' इस श्रुतिवाक्य से होती है। दूसरा एकात्मवादी दृष्टि का ब्रह्मभाव है जो मनीषियों को भी बड़ी मशक्कत में डालता है। तीसरा ब्रह्मभाव वह है जो कृमि कीटादि जन्तुओं से परमेष्ठी पर्यन्त सारे चित्तों में अनायास उपलब्ध होता है जो पिछले श्लोक में वर्णित है। इस तीसरे ब्रह्मभाव को ध्यान में रखकर कहते हैं कि परमात्मा तो जगत् के स्वामी होने के नाते सारे लोगों को अपना रक्षणीय प्रिय सेवक मानते हुए उनके हित के उपाय ठाने रहते हैं किन्तु सामान्य जन मैं ही ब्रह्म हूँ, मेरे सिवा दूसरा कौन है ऐसा मानता हुआ अनादिकाल से उन अर्थों को पाने या पकड़ने में लगा रहता है जो या तो हैं ही नहीं और यदि हैं भी तो उसके काम के नहीं है। यह स्थिति संसारी चेतनों की जिस गुण से बनी हुई है उसे ही ईर्ष्या कहते हैं। ईर्ष्या के इस व्यापक प्रभाव को देखते, समझते हुए इसे छुड़ाने के उपायों में लग जाना चाहिए। उपायों का संकेत इस गुच्छ के अन्त में है।

कृष्णस्य दूतस्य पुरः प्रभावमसह्यमालक्ष्य च कर्णमुख्याः।
न संगरेच्छां विजहुर्हताश्च फलन्तदीर्ष्यातरुसम्प्रसूतम्।।७।।

मौत की भी परवाह न करके अड़े रहना ईर्ष्या का सहज स्वभाव है यह बतलाते हुए कहते हैं कि महाभारत युद्ध के आरम्भ में वासुदेव कृष्ण ने पाण्डवों का दूत बन कर धृतराष्ट्र के दरबार में जाकर युद्ध टालने के लिए पाण्डवों को केवल पाँच गाँव दिलाने का प्रस्ताव किया था। उस समय घमण्डी दुर्योधन ने भगवान् कृष्ण को बाँध लेने का आदेश अपने सेवकों को दिया। तब उन्होंने उस सभा में अपना वह विराट् रूप दिखलाया, जिसे देखते हुए भीष्म, द्रोण आदि सहित सारे लोग घबड़ा गये, कर्तव्य भूल गये, उन्हें भागने का रास्ता भी न सूझ रहा था, मानों वे सारे के सारे बिन बाँधे ही कठिन बन्धन में पड़ गये। वहाँ दुर्योधन का सच्चा सखा कर्ण भी उपस्थित था। वह भी कोई उपाय या दिशा नहीं सोच पाया। पाण्डवों के एक दूत का इतना प्रभाव अपने राजद्वार में देखकर दुर्योधन, कर्ण आदि को युद्ध की इच्छा छोड़ देनी चाहिए थी किन्तु ऐसा नहीं हुआ। देखकर भी भगवान् कृष्ण का महाप्रभाव स्वीकार करना ईर्ष्याग्रस्त कौरवपक्ष के लिए असम्भव था, युद्ध हुआ, कौरव मारे गये। यह चित्त में जमे ईर्ष्या रूपी वृक्ष का फल था। संसार में ऐसा होता ही रहता है। इस दोष की जटिलता का ध्यान रखते हुए अपने चित्त से इसे उखाड़ फेंकने के स्थायी उपायों में लग जाना चाहिए।

स्वशासनं वा परशासनं वा चिरादिदम्भारतवर्षराष्ट्रम्।
दग्धम्प्रदग्धम्परिदह्यते च यज्ज्वालया सोऽयमनिन्धनोऽग्निः।।८।।

भारतवर्ष का बहुत बड़ा इतिहास है। दूसरे देशों का इतिहास इसकी तुलना में नगण्य है। यहाँ स्वदेशी राजा–महाराजाओं के शासन का विवरण विस्तार से उपलब्ध है। विदेशियों का अल्पकालिक शासन तो हम जानते ही हैं और अब तो विदेशी शासन हटने के बाद देश में अपना ही शासन चल रहा है। आदि से लेकर आज तक के शासनों में ईर्ष्या की भूमिका बहुत प्रबल है। देश शुरु से ही बिना ईन्धन के जलने वाली ईर्ष्या रूपी आग की ज्वाला में बहुत बार बहुत बुरी तरह से जल चुका है और आज भी जल रहा है। अज्ञान से उत्पन्न होने, पलने वाली ईर्ष्या आज तो ज्यादा ही फैली है। इसें निवारण के लिए जो ज्ञान समाज को अपेक्षित है वह अभी किसी को रुच नहीं रहा। पुण्य के अभाव में कल्याण के उपाय किसी को रुचते नहीं।

युवा पितुर्वा सुवचो गुरुणां दुःसंगदोषादवमन्यमानः।
शीलं न शिक्षां कलयत्यभाग्यस्तदीर्ष्यया नाशयति स्वमेव।।९।।

यह दोष जन्म से ही होता है और जीवन के विकास में बाधक होता है यह प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि कोई बालक बचपन से ही बुरी संगत में रहने लगता है और पिता का या गुरुजनों का कल्याणकारी वचन नहीं मानता बल्कि वैसे वचनों का विशेष अनादर करता है। इस तरह वह शील और शिक्षा दोनों नहीं ले पाता और अपने अभाग्य से स्वयं को बिगाड़ लेता है। अच्छे दम्पति को ही गुणवान् पुत्र पौत्रादि मिलते हैं।

दत्त्वाऽपि पाणिं गृहिणी स्वभर्तुस्तमीशबुद्ध्याऽर्चति नैव भक्त्या।
जहाति मोक्षावसरं स्वहस्तादीर्ष्यासखीसङ्गहताखिलार्था।।१०।।

कोई भी भारतीय नारी विवाह संस्कार मात्र से संसार बन्धन से छूट सकती है। उसके लिए उसे अन्य जपदान, व्रत, तप आदि साधनों की आवश्यकता नहीं होती किन्तु यह ईर्ष्या ही उसे भी परमपुरुषार्थ से वञ्चित रख लेती है, यह सूचित करते हुए कहते हैं कि कोई भी पत्नी जब अपना हाथ पति को समर्पित कर चुकी होती है, यानी समर्पण रूप महान् धर्म का अनुष्ठान कर चुकी होती है तो उसे महान् फल मोक्ष मिल जाना चाहिए। पति के प्रति किया गया समर्पण सर्वान्तर्यामी परमात्मा के प्रति ही होता है। किन्तु इस रहस्य को वह समझ नहीं पाती और पाणिग्राही पुरुष को परम पुरुष मानना नहीं चाहती, ईर्ष्यावश उसे वैसा मानना अच्छा नहीं लगता। इससे ईश्वर बुद्धि रखकर वह उसकी पूजा नहीं करती। वह ईर्ष्या रूपी अपनी सहज सखी की संगति से अपने सारे पुरुषार्थ नष्ट कर लेती है। यह ईर्ष्या लोक ही नहीं बिगाड़ती, परलोक भी बुरी तरह से बिगाड़ देती है। इससे बचाव के प्रयत्न सत्संग से सफल हो सकते हैं।

बाला न विद्याऽधिगमे यतन्ते चौर्यादिदोषान् वृणते कुमाराः।
प्रौढ़ाश्च हिंस्राननुयन्ति जन्तून् ईर्ष्याविचेष्टा विविधाः किलैताः।।११।।

मानव समाज में सदा से ईर्ष्या का साम्राज्य है यह सूचित करते हुए कहते हैं कि बहुत से बच्चे विद्या की प्राप्ति के लिए यत्न नहीं करते, बहुत से कुमार, चोरी, जुआ आदि बुराईयाँ बटोर लेते हैं, बहुत से प्रौढ़ जन मानव होते हुए भी मानव के लिए ही बाघ और शेर जैसे आचरण करते हैं, यह असंख्य प्रकार की कुचेष्टायें ईर्ष्या की ही हैं। इस व्यापक बुराई के लिए

व्यापक उपाय अपनाने होंगे। वह है चेतन को अपने उस शाश्वत धर्म को समझ कर करते रहना जो परमात्मा से कुछ असामान्य सम्बन्धों के नाते होता है।

न सन्मतिं वाञ्छति यस्तु जन्तुस्तनोत्यभद्राचरणान्यजस्रम्।
प्राग्दुष्कृतोत्था सुकृतासहेर्ष्या सैषा पिधत्तेऽभ्युदयाऽभ्युपायान्।।१२।।

उक्त सामान्य नियम को किसी के व्यक्तिगत जीवन में भी देखकर रक्षात्मक प्रेरणा ली जा सकती है यह सूचित करते हुए कहते हैं कि कोई व्यक्ति शुरु से ही अच्छी बुद्धि नहीं चाहता और अशुभ आचरण ही लगातार करता रहता है। यह पिछले पापों से उत्पन्न हुई स्वयं शुभ कर्म का सहन न करने वाली ईर्ष्या है जो अभ्युदय के उपायों की ओर देखने तक का अवसर बनने नहीं देती।

केनाऽपि पुण्येन चिरार्जितेन सङ्गात्सतामीशधियन्तनोति।
सर्वत्र लोकेऽविरतादरात्मा हित्वा तमेषाऽऽश्रयतेऽल्पपुण्यम्।।१३।।

इस दोष के छूटने की सम्भावना बतला रहे हैं ? पिछले जन्मों के किसी चिरकाल अर्जित अचिन्त्य महान् पुण्य से यदि सत्पुरुषों की संगति मिल जाये और वहाँ सर्वत्र भगवद् दृष्टि की प्रेरणा मिले जिससे सर्वत्र आदर भाव जारी रहने लगे तब यह दोष उस पुरुष को छोड़ कर किसी कम पुण्यवाले का सहारा ले लेता है। वह दोष नष्ट नहीं होता, क्योंकि छोड़े हुए पुरुष के पिछले पापों का फल उसके शत्रुओं को मिलता है। इसी नियम से उसके पापफल ईर्ष्या के भागी उसके पूर्व शत्रु हो जाते हैं।

सहस्व सर्वम्मन ईशसेव्यं, सर्वन्त्रिलोक्यां न तवास्ति किञ्चित्।
तद्दर्शनाभ्यर्चनसत्प्रणामैः सरंस्तमानन्दनिधिं समेहि।।१४।।

इस दोष से छुड़ाने के लिए अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि मन इस जगत् में तुम्हारा कुछ नहीं है। यह तो सारा का सारा परमात्मा के भोगों का साधन है। इससे यहाँ जो भी कुछ हो रहा है उसे सहते जाओ। उस परमात्मा का शास्त्र वचनों से दर्शन, पूजन और विधिवत् प्रणाम करते हुए आनन्द के उस निधान की ओर बढ़ते हुए उन्हें ही प्राप्त हो जाओ। भगवान् की ओर बढ़ने से दोष धीरे–धीरे छूटते जाते हैं फिर परम कल्याण भी हो जाता है।

।। ईर्ष्यागुच्छ समाप्त।।

• अथ असूयागुच्छः •

यमवाप्तवतां जडात्मनां गुणबुद्धिस्तरसा विलुप्यते।
परमार्थदृशोऽप्यसम्भवे तमसूयां गुणभूर्जितं नुमः।।१।।

जब हमें किसी के गुण नहीं रुचते तो उनमें दोषों का आरोप करके प्रचार करने लगते हैं। इसी प्रवृत्ति को असूया कहते हैं। स्तुति वचनों से भी दोषों की निन्दा होती है। यहाँ असूया रूपी बढ़े हुए गुण (वास्तव दोष) की स्तुति करते हुए कहते हैं कि कुछ लोगों को शास्त्रों से और सत्संग से तत्त्वबोध या परमार्थ दृष्टि हो जाती है। तब सत्त्व, रज, तम इन गुणों और इनके कार्य सारे संसार से बुद्धि हट जाती है, यह जीवन की बहुत बड़ी सफलता है। किन्तु यह सफलता बढ़े हुए असूया के भाव से भी मिलती है। असूया की प्रवृत्ति वालों को कहीं कोई गुण नहीं दिखाई पड़ता। परमार्थ दृष्टि के अभाव में भी इतनी बड़ी सफलता दिलाने वाले असूया नामक महान् गुण की हम स्तुति करते हैं। यह व्याजस्तुति है, इसमें निन्दा की भाषा में स्तुति या स्तुति की भाषा में निन्दा होती है। परमार्थदर्शी की मानसिक अवस्था को हम गुण बुद्धि का लोप कह सकते हैं। यह वचन असूया वाले पर भी लागू होता है। अर्थों में बहुत अन्तर होता है।

यदि रागविधायिनो गुणा अथ दोषा अपरागहेतवः।
इति यैः सुचिरं विभाव्यते किमु नम्या न नु तेऽप्यसूयवः।।२।।

असूयावृत्ति वालों का चिन्तन सदा यह होता है कि यदि अमुक में गुणों के कारण किसी को श्रद्धा या प्रेम होता है तो उसमें दोष होने से हमे अरुचि क्यों न हो ? असूयावाले वे लोग भी नमस्कार के योग्य क्यों न हों। गुणों से आकर्षण और दोषों से विकर्षण होता है। यथार्थ पर आधारित होने से यह दोनों अच्छे होते हैं। मानव प्रायः एकपक्षी सोच रखता है जब कि उसे उभयपक्षी या बहुपक्षी होना चाहिए।

दब रहे दोष पक्ष को उजागर कर रहे असूया वालों का भी कम उपयोग नहीं है। अवश्य वे दोषदर्शी प्रवृत्ति होने से अपने आप में अपने लिए घातक होते हैं। कल्याण के इच्छुक सज्जन प्रायः तटस्थ भाव रखते हैं, वे विवेक से काम लेते हैं, धोखे में कम पड़ते हैं।

रविरश्मिषु काानने जलं कस्तूरीं लभताम् मृगो न वा।
वयमुच्चगुणेषु दुर्गुणान् मृगयेमापि लभेम सत्फलम्।।३।।

असूया वाले बोल रहे हैं कि हम वह जंगली हिरण नहीं हैं कि सूर्य की किरणों में पानी मानकर दौड़ते रहें या अपनी नाभि में रहने वाले कस्तूरी के गन्ध को वनस्पति का मान कर ढूंढ़ते रहें और कभी कहीं कुछ न पा सकें, हम तो मानव असूयु हैं जो कि ऊँचे गुणों में भी बुराईयाँ ढूंढ़ लेंगे और ढूंढ़ने का अच्छा फल पुरस्कार आदि प्राप्त कर लेंगे। अपनी महारत पर नाज होना सबके लिए स्वाभाविक है।

सुसुतेऽपि हिरण्यशायिना कैकेय्या रघुनन्दने शुभे।
स्वगुणाप्तजगत्त्रये हरौ शिशुपालेन च दूषणं दधे।।४।।

असूया की प्रवृत्ति सृष्टि के आरम्भ काल से ही है, यह दरशाते हुए कहते हैं कि अपने गुणवान् पुत्र प्रह्लाद पर हिरण्यकशिपु ने और लोकाभिराम राम पर कैकेयी ने एवं अपने महान् गुणों से तीनों लोको को वश में करने वाले भगवान् कृष्ण पर शिशुपाल ने दोष मढ़े थे। बढ़ी हुई ईर्ष्या असूया उत्पन्न करती है।

ननु सर्वगुणेषु दुर्गुणा विधिना सर्गविधौ पटीयसा।
रचिता अथ तत्परीक्षका बहवोऽसूयुजनाश्च कल्पिताः।।५।।

बुराईयाँ विधाता ही बनाते हैं, असूया वाले तो उन्हें केवल सूचित करते या परख करते हैं, यह कहते हैं कि सृष्टिक्रम में प्रवीण ब्रह्मा ने सारे गुणों के साथ दुर्गुण भी बनाये हैं, उन बुराईयों की परख रखने वाले निन्दक भी विधाता ने ही बनाये हैं। यदि घास बनी है तो चरने वाले पशु भी हैं। यह तो सृष्टि की व्यवस्था ही ऐसी है।

असदेव जगन्मनीषिणां व्यवहारस्त्वनुवर्ततेऽनिशम्।
अथ च व्यवहारहेतवः किमसन्तो न भवन्ति दुर्गुणाः।।६।।

कुछ ज्ञानी जगत् को मिथ्या मानते हैं। उनसे पूछा जाता है कि अगर गड्ढा मिथ्या है तो हम उसमें गिरते क्यों हैं और दीवार झूठी है तो हम उसमें टकरा क्यों जाते हैं, और दरवाजा झूठ है तो हम उससे निकल कैसे जाते हैं। इसके उत्तर में उनका कहना है कि गड्ढा और गिरना, दीवार और टकराना, दरवाजा और निकलना यह सब समान रूप से झूठ हैं। इस पर असूया वाले कहते हैं कि तब तो हम बिना गड्ढे के ही गिरें, बिना दीवार के ही टकरायें, बिना दरवाजे के ही निकला करें यह हो सकता है। इससे हमें फायदा यह हो रहा है कि बिना बुराई के ही हम निन्दा करें, बुराइयों की घोषणा करें।

कुनयी निजगाद धीधनो व्यवहारं व्यवहारसत्तया।
न तु तां व्यतिरिक्तरूपिणीं कलयामास मनीषया स्वया।।७।।

असूयुओं के उक्त प्रश्न पर मायावादी पण्डित कहते हैं कि व्यावहारिक कार्यों के लिए व्यावहारिक कारणों का होना भी आवश्यक होता है। इस पर बिना माया वाले मनीषी कहते हैं कि तुम्हारे व्यावहारिक कारणों से कार्यों के होने का यह जो नियम है इसे ही तुम समझ नहीं पाते। कारण और उनका होना इन दोनों में बहुत अन्तर होता है। कारणों के होने का अर्थ होता है देशकाल अवस्था से सम्बन्ध, सहकारी कारणों से सम्बन्ध, क्रिया फल उद्देश्य और फलावस्था से सम्बन्ध। इन आठ सम्बन्धों को झुठलाना किसी भी मायावादी के लिए असम्भव है। तब तो झूठे दोषों से निन्दा सम्भव नहीं होगी। किन्तु मायावी कहेंगे कि हमारे गुरु तो मायावादी ही रहेंगे और हम झूठ से भी सच निकालते ही रहेंगे। हमारे वे गुरुजन व्यावहारिक अर्थों से अधिक व्यावहारिक सत्ता को महत्त्व नहीं देते। इससे असूया वालों की बन जाती है।

धरणौ सुलभाऽश्मशर्करा विपिने कण्टकजालसन्ततिः।
कुमुखा कुमतिश्च कामिनी सुलभाः सर्वदिशास्वसूयवः।।८।।

विधाता ने हम पर दया करके हवा पानी की तरह असूया वालों को सब जगह तैनात कर रखा है, यह कहते हैं कि धरती पर पत्थर के रोड़े सुलभ होते हैं, जंगल में कंटीली झाड़ियाँ मिलती ही हैं, घर–घर पर बकवादी नासमझ औरतें मिलती ही हैं ऐसे ही सारी दिशाओं में असूयावाले भी सुलभ होते हैं।

सुसमाहितचेतसा जनैः परिमृग्याः सुजनेषु दुर्गुणाः।
मधुपः सुमनःकषायितामवगच्छंस्त्यजते मधुग्रहम्।।९।।

आसूया के उस्ताद कहते हैं कि बड़े ही मनोयोग से सज्जनों में बुराई ढूँढ़नी चाहिए। देखो, भौंरा फूल से मधु लेता है किन्तु जब उस मधु में भी फूल का कसैलापन आने लगता है तब वह मधु लेना छोड़ कर उड़ जाता है। सज्जनों में जब बुराई आने लगे तो उनसे दूर हो जाना चाहिए। इसके लिए उनमें बुराई का ध्यान पहले से ही रखा जाता है।

असतोऽपि गुणान् प्रकल्प्य यैः स्तुतिगीः क्षुद्रजनस्य पठ्यते।
सुजनेषु त एव दुर्धियां गुरवो दोषगणोपघोषणे।।१०।।

असूया के पक्षधर कहते हैं कि पुराने कवियों ने असूया की सृष्टि की है। कैसे कि, वे पुरस्कार पाने के लिए राजा महाराजाओं और दूसरे बड़े लोगों में झूठे गुणों की कल्पना करके उनकी स्तुति करते रहे। उन्हें देखकर हम भी झूठे दोषों की कल्पना करके उनकी बुराई करते हैं। तब अच्छे लोग जो उनसे दूर होने लगते हैं यही हमारा पुरस्कार होता है। ''परहित हानि लाभ जिन्ह केरे'' गोस्वामी तुलसीदास।

माया यदि ब्रह्मगुणान् विलोप्तुम् मिथ्यागुणान् कल्पयितुञ्च शक्ता।
किं नोऽप्यसूयागुणगर्वितानाम् माया न कस्यापि गुणान् विलुम्पेत्।।११।।

असूया वाले फिर कहते हैं कि वेदान्त ग्रन्थों में कहा है कि माया ब्रह्म के अच्छे गुणों को छिपा कर झूठे गुण प्रदर्शित करती है। यदि ऐसा है तो हम भी असूया जैसे गुणों के अभिमानी हैं, फिर हमारी माया भी किसी के गुणों का लोप क्यों न कर पाये।

सुकृतसंगतसज्जनसद्वचःसमनुपालनलीनतमोऽन्तरे।
दिनकरे सुविवेककराकरे भवति दुर्मतिसंसृतिसंक्षयः।।१२।।

इस असूया के मूल दुर्बुद्धि की धारा का लोप कैसे होता है यह बतलाते हुए कहते हैं कि पुराने पुण्यों से मिले सज्जनों के उत्तम वचनों का अनुपालन होने से धीरे–धीरे जब अन्दर का अन्धेरा छिप जाता है और सुविवेकरूपी किरणों वाले शुद्ध चित्तरूपी सूर्य का उदय होता है तब बुराई तलाशने वाली दुर्बुद्धि की धारा क्षीण होकर नष्ट हो जाती है।

।। असूयागुच्छ समाप्त।।

• अथ मत्सरगुच्छः •

विलोक्य परवैभवं यदपरोऽपि तल्लिप्सया
यतेत तदिदं तदीयमुदितं कृतं सत्कृतम्।
अथो तदुदयातपज्वलितया धिया तत्क्षयं
विचिन्तयति तस्य तत् समुदितम्महत् पातकम्।।१।।

ईर्ष्या और मत्सर लगभग पर्याय हैं। उसका निरूपण करते हैं कि दूसरे का वैभव देखकर जो दूसरा भी वह पाने के लिए जो प्रयत्न करता है वह उसका काम सत्कर्म कहा जायेगा। किन्तु जो व्यक्ति दूसरे के अभ्युदय को आग मानने लगता है और उस कल्पित आग में उसकी बुद्धि जलने लगती है

एवं जलती हुई बुद्धि से उस अभ्युदय के विनाश का उपाय सोचने लगता है, वह उसका सोच उसके सम्मिलित भारी पापों का समूह होता है। वह इकट्ठे घोर अपने पुराने पापों से नया बड़ा पाप शुरु करना चाहता है।

गृहे धनजनाञ्चिते सुवपुषा वसन् शास्त्रवित्।
सुशिष्यसुहृदर्चितो रिपुपराभवाग्न्युज्झितः।
सुखोचितपरिस्थितावपि कृतैः पुरा दुष्कृतैः
परोन्नतिजया खलः सततमीर्ष्यया दह्यते।।२।।

जिसके प्रति कोई अच्छी नीति सफल नहीं होती उसे खल कहते हैं। मत्सर खल का सहज स्वभाव होता है। जब मानव को सुख के सारे साधन प्राप्त हों तो उसे किसी के उत्कर्ष से प्रसन्नता ही होती है किन्तु खल उस अवस्था में भी दूसरे के उत्कर्ष से जलने लगता है। जैसे कोई अपने अच्छे भवन में अपेक्षित धन और सेवकों से युक्त हो, वह शास्त्रज्ञ भी हो जिससे सोचने और करने की दिशा जानता हो, उसका शरीर भी नीरोग और गठीला हो, अच्छे शिष्य और मित्र उसकी सेवा में लगे हों, दुश्मनों की ओर से भी कोई कष्ट न हो रहा हो, इस तरह सारे सुख साधन होने पर भी पिछले जन्म के किये पापों के फलस्वरूप दूसरे की उन्नति देख कर खल सदा ईर्ष्या की आग में जलता रहता है।

तमःप्रचुरभूतले परविनाशचिन्ताजुषो
भवन्ति पुरुषा रुषा सहजयाऽग्निवक्त्राः शठाः।
न ते सुकृतचर्चया क्वचिदपि प्रसीदन्ति वै
परक्षयमहोत्सवाः शुभदशाविधो राहवः।।३।।

पृथ्वी पर ईर्ष्यालु ज्यादा होते ही हैं यह सूचित करते हुए कहते हैं कि पृथ्वी पर तमोगुण की अधिकता सदा से है, इससे ज्ञान ढकता है और अज्ञान के सारे दोष बहुतायत से मिलते हैं। यहाँ मन में दूसरों की हानि की चिन्ता रखने वाले, स्वाभाविक क्रोध वाले मुँह से सदा क्रोध की आग उगलते रहने वाले किसी की बात नहीं सुनने मानने वाले, लोग ही ज्यादा होते हैं, वे पुण्य की चर्चा से कहीं भी कभी प्रसन्न नहीं होते। वे तो दूसरों की हानि को ही अपना उत्सव मानते हैं और किसी की अच्छी अवस्थारूपी चन्द्रमा के लिए राहु तुल्य अन्धकारमय होते हैं। किसी की अच्छाई को नष्ट नहीं कर पाते तो उसे ढकते जरूर हैं।

परस्य यशसा ज्वलन् वितथदोषधूमं वमन्
दहन्नपि निजाश्रयं न गणयन्नपि स्वं क्षयम्।
पुरःस्थविवरम्प्रभाभिरिव वाग्भिरालोकभन्
शिखी सुकृतघस्मरो जयति सर्वतो मत्सरः।।४।।

मत्सर एक ऐसी आग है जो दूसरों के यश से, मानो हवा के झोंके से जलती है। वह झूठे दोषरूपी धुवाँ उगलती रहती है, अपने आश्रय भूत चेतन को जलाती रहती है, ईन्धन के समाप्त होने पर आग भी स्वयं समाप्त हो जाती है, आश्रयभूत चेतन के पूर्व पुण्य ही इसका ईन्धन होता है, उसके मिटने पर यह स्वयं भी मिट जाता है, अपने मिटने की परवाह आग को नहीं होती। दूसरों की बुराई करने की क्षमता भी किसी पुण्य से ही होती है। उसके न रहने पर पापी ईर्ष्या भी नहीं कर पाता, उसकी ईर्ष्या का कोई फल प्रकट नहीं होता। आग अपनी प्रभा से सामने वाले का छिद्र प्रदर्शित कर देती है, ऐसे ही यह ईर्ष्या वाणी से दूसरों की बुराई दिखलाती है। यह ईर्ष्या जो मत्सर भी कही जाती है सब जगह विजय पा रही है। इसके सामने सारे गुण और दोष भी फीके ही रहते हैं। पापों से समाज की प्रगति रुकती है, पाप अपने फलों के लिए सर्वत्र मत्सर उपजाता रहता है।

उपेक्षितनिजोदयः परविनाशचिन्तामयो–
ऽनपेक्षितफलोदयः प्रयततेऽन्यकार्यात्यये।
विलोक्य मृतमात्मना कमपि सज्जनम्मत्सरी
विषीदति मया विना कथमयं तनुं हाऽत्यजत्।।५।।

मत्सरी (ईर्ष्यालु) व्यक्ति कभी अपने अभ्युदय का ध्यान नहीं रख पाता, क्योंकि वह तो सदा दूसरे की हानि की ही चिन्ता करता रहता है। वह दूसरे का काम बिगाड़ देना मात्र चाहता है, उससे अपने किसी लाभ का ध्यान उसे नहीं रहता। यदि वह देख लेता है कि कोई भला आदमी अपनी मौत से मर गया तो वह पछताता है कि यह मेरे मारे बिना क्यों मर गया। मत्सर जब घनीभूत होता है तो केवल दूसरों का विनाश ही सूझता है, तब अपने जीवन की भी परवाह नहीं होती। आज के आत्मघाती हत्यारे आतंकी (फिदायीन) इसके अच्छे उदाहरण है।

भुनक्त्युचितभोजनं सुवसनञ्च धत्तेऽन्वहं
सुहृद्भिरनुभाषते दयितया च सम्प्रीयते।

तथाऽपि न तथा मुदं वहति यादृशं विद्युता
हते परसुते खलो विधुरिताः स्त्रियो वीक्ष्य वै।।६।।

जिसके प्रति कोई अच्छी नीति सफल न हो वह खल कहा जाता है मत्सर का वास उसी में होता है। यहाँ मत्सरी को खल कहते हुए कहते हैं कि वह अपने घर में अनुकूल भोजन करता है, प्रतिदिन उत्तम वस्त्र भी धारण करता है, मित्रों से उसका प्रेमपूर्ण वार्तालाप होता है, पत्नी से भी सन्तुष्टि प्राप्त करता है, सन्तुष्टि के इन सारे साधनों से भी खल उतना सन्तुष्ट नहीं होता जितना कि बिजली लगने से किसी के पुत्र के मरने पर उसके शोक से व्याकुल चिल्लाती छटपटाती महिलाओं को देख कर सन्तुष्ट होता है। ''पर हित हानि लाभ जिन केरे'' गोस्वामी तुलसीदास।

न तीर्थजलधावनैः श्रुतिरवैर्न वा पावनै–
र्व्रतैरनशनादिभिर्न च निरेति दानादिभिः।
न तत्त्वसमवेक्षणात्क्षणमयं क्षयं याति वै
स्मरादपि सुदुस्तरः कुमतिनिर्भरो मत्सरः।।७।।

यह मत्सर काम से भी दुर्जय है, काम विषयसंस्कारों और संकल्प से होता है किन्तु यह मत्सर एक अतिरिक्त दुर्बुद्धि पर टिकता है। जिस पर मत्सर होता है उसमें कुछ दोष की कल्पना होती है, वह कल्पना कुसंस्कारों से होती है। यह कुसंस्कार जल्दी मिटते नहीं हैं इससे यह दोष काम से भी अधिक असाध्य होता है। यह तीर्थस्नान से नहीं जाता, पवित्र श्रुतिवचनों के पाठ या श्रवण से नहीं जाता, उपवास आदि व्रतों से भी यह नहीं जाता, दान जप आदि से भी नहीं जाता, तत्त्वविचार से भी यह एकक्षण के लिए भी नहीं जाता, प्रकृति के दोषों को प्रकृति में ही मानते हुए आत्मा को नित्य शुद्ध असंग मानने और उसके अनुरूप व्यवहार का चिर अभ्यास होने पर ही यह किसी का दूर हो सकता है।

त्यजेत्सुकृतसन्ततिम्भजति पर्वतेऽपि स्थितिं
न बन्धुमपि संस्मरेन्न पितरौ न वा दैवतम्।
परापकरणेऽनिशं यतिसमं दधानो मनो
न मत्सरपरश्वधं त्यजति रामवद्दुर्जनः।।८।।

मत्सरी की तुलना भगवान् परशुराम से करते हुए कहते हैं कि वह अपने सारे पुण्यों को छोड़ सकता है जैसे कि परशुराम जी ने दाशरथि राम के

कहने पर अपनी तपस्या के सारे फल छोड़ दिये थे, वह उनकी ही तरह किसी पर्वत पर भी ठहर सकता है, वह अपने भाइयों को भी उनकी ही तरह भूल सकता है, वह माता पिता को भी भूल सकता है, वह परमात्मा को भी भूल सकता है जैसे परशुराम जी पूर्णावतार दाशरथि राम को भगवान् के रूप में पहचान नहीं पाये थे। वह दूसरों के काम बिगाड़ने में एक योगी की तरह मन लगाये रहता है, वह अपने मत्सररूपी औजार को वैसे ही नहीं छोड़ता जैसे परशुराम जी अपना फरसा सम्हाले ही रहते हैं।

शुनश्च करिणो भिदा बलिभुजो मरालस्य या
यथा महिषवाजिनोरुरगभेकयोर्वा मिथः।
यथैव विषदुग्धयोर्भवति दुर्निवारा नृणां
तथेर्ष्युसुहृदात्मनोस्त्रिभुवने भिदौत्सर्गिकी।।६।।

मानव देखने में एक जैसा ही लगता है किन्तु अन्दर से बहुत अन्तर रहता है। जैसे कुत्ते और हाथी में, कौवे और हंस में, भैंस और घोड़े में, सांप और मेढक में, या जहर और दूध में कभी न मिटने वाला अन्तर रहता है वैसे ही दूसरे से जलने वाले मत्सरी और परोपकारी सज्जन में होता है। मत्सरी कभी सज्जन नहीं हो सकता।

अदीर्घपुरुषार्थिनाम् परविनाशचिन्तावताम्।
चिराय निरयानलज्वलितसद्गुणोपेक्षिणाम्।
सुहृत्स्वपि च कोपिनां विगतजन्मभिः पापिनां
घनो भवति देहिनाम्प्रकृतिदुस्तरो मत्सरः।।१०।।

मत्सरी महत्त्वाकांक्षी नहीं होता, उसे अपने उत्कर्ष की चिन्ता नहीं होती, वह तो सदा दूसरों के विनाश की ही चिन्ता करता है, वह पहले नरक में चिर काल रह कर वहाँ के अग्नि में अपने सारे गुण जला चुका होता है, वह अपने मित्रों पर भी क्रोध करता है, उनकी भी अच्छाई उसे खलती है, वह पिछले अनेक जन्मों से पाप ही अर्जित करता रहता है इससे उसका मत्सर, जिसे वह छोड़ नहीं पाता, उत्तरोत्तर घना ही होता जाता है। दूसरों के अहित के अनुसार मत्सर का घनत्व जाना जाता है।

हरेः करुणया सतां यदि भवेच्चिरं सन्निधिः
परापकरणोद्यमं द्यति तदैव वामो विधि।

चिरं च घनसंकटे निजकृतैः स्वयं धीयते
तदाऽसुविगमक्षणे कुटिलयेर्ष्यया हीयते।।११।।

मत्सर के छूटने की सम्भावना बतलाते हुए कहते हैं कि यदि भगवान् की कृपा से सज्जनों की संगति देरतक बनी रहे और मत्सरी अपनी पुरानी आदत से जब दूसरे का कुछ बिगाड़ने लगे उसी समय उसका वाम विधाता उसके उद्यम को काट डाले और यदि वह अपने पुराने पापों के फलस्वरूप चिरकाल तक भारी संकट में पड़ा रहे जिससे दूसरे का कुछ बिगाड़ने की प्रवृत्ति न बन पाये तो शायद देर तक प्रवृत्ति बन्द रहने से मत्सर छूट सकता है। पापियों के लिए रोग दुःख उनके हित में ही होता है।

।। मत्सरगुच्छ समाप्त।।

• अथ वित्तदोषगुच्छः •

पार्श्वे सौधं यादृशम्भव्यरूपं
यद्विस्तारं यद्यदाकारमास्ते।
तत्तुल्यम्मे स्तात्ततश्चाधिकं वा
चिन्तैषा दोदूयते वित्तवन्तम्।।१।।

आने वाले धन में पिछले स्वत्वों के अनुसार कुछ भले बुरे संस्कार होते हैं। पाने वाले व्यक्ति के संस्कार तो होते ही हैं। दोनों संस्कारों से उसके चित्त में अनेक अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं। उनका ही यहाँ वर्णन है। बगल के किले में जो रूप रंग हैं, जितना उसका आयतन है वैसा ही मेरा भी होना चाहिए, ऐसी चिन्ता धनवान् को सदा सताती रहती है।

एवं याने वाऽधिकारे धनाप्ये
स्पर्धैषाऽर्थस्वामिनाम्बोभवीति।
अर्थाल्पत्वे तत्प्रवृद्घ्यै प्रयत्नो
वित्तस्वादस्यावकाशं निरुन्धे।।२।।

धन से मिलने वाले भवन की उक्त स्पर्धा के समान धनवानों को गाड़ी की भी स्पर्धा होती है, पद की और अधिकार की भी तीव्र स्पर्धा होती है। यदि बराबरी के लिए धन कम मालूम होता है तो उसे बढ़ाने का प्रयत्न जारी रहता है। इस तरह अपने पास धन के होने का सुख दबा ही रह जाता है।

स्पर्धावन्तो वित्तवन्तोऽपि दीनाः
स्पर्धायोगात्सेक्षणाश्चाक्षिहीनाः।
स्पर्धोत्कर्षेऽमर्षवैरप्रणाशा
राज्ञां राष्ट्राणामभूवंस्तथा स्युः।।३।।

जिनके चित्त में स्पर्धा का भाव बना होता है वे धनवान् होते हुए भी दीन होते हैं। स्पर्धा उन्हें आँखों के होते भी अन्धा बनाये रहती है। स्पर्धा जैसे–जैसे बढ़ती है वैसे–वैसे क्रोध, शत्रुता और मृत्यु भी हो जाती है। यह सब राजाओं के और राष्ट्रों के हो चुके हैं आगे भी सम्भव हैं।

स्पर्धोत्कर्षे हेतुरिष्टा गुणानां
वित्तस्पर्धा वित्तसौख्यापहन्त्री।
सौख्याधारस्तत्त्वधीर्नैव वित्तम्,
मूढो युङ्क्ते हन्त ! तत्रैव चित्तम्।।४।।

गुणों को बढ़ाने में कारण बनने वाली स्पर्धा तो अच्छी होती है। किन्तु धन की स्पर्धा धन के सुख का ही नाश करती है। वास्तव में सुख का आधार तत्त्वबोध है, न कि धन। फिर भी मोहग्रस्त व्यक्ति अपना चित्त धन से ही जोड़ता रहता है।

यद्यत्पापम्पातकी सञ्चिनोति
चित्ते तिष्ठत्तस्य तद्वित्तनिष्ठम्।
संक्रम्यान्यत्राश्रयेणाप्यपापे
रोगं शोकं विग्रहं सन्तनोति।।५।।

पापी पुरुष जो–जो पाप अर्जित करता है वह उसके चित्त में रहता हुआ उसके धन में भी टिका होता है। धन के सहारे वह पाप किसी निर्दोष व्यक्ति के हाथ में भी जाकर रोग शोक और संघर्ष बढ़ाता है।

यावद्यावद्वित्तमायाति सन्तं
तावत्तावत्पापमायाति तस्मिन्।
बुद्धिस्तावत्तत्त्वतो भिद्यमाना
मिथ्याभूतार्थेष्ववाप्नोति निष्ठाम्।।६।।

उक्त अर्थ ही दूसरे रूप से प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि किसी सत्पुरुष के पास धन जैसे–जैसे आता–जाता है वैसे–वैसे उसमें पाप भी आता जाता है और वैसे–वैसे ही उसकी बुद्धि यथार्थ से हटती जाती है और नाशवान् मिथ्या अर्थों में ठहरने लगती है। यह अर्थ सैकड़ों लोगों को बहुत उदाहरणों से विदित है, होता भी रहता है, किन्तु धन का मोह इस तथ्य से बुद्धि को पलटाता रहता है।

हस्त्यश्वाद्यं वाहनं स्वर्णरौप्यं
मुद्रा भूमिर्भक्तशिष्या धनेशाः।
स्थानाधीशं विष्णुचिन्ताविमुक्तं
कृत्वा चक्रुर्न्यायसद्मैकसक्तम्।।७।

उक्त अर्थ को विशेष उदाहरणों में घटित दरशाते हुए कहते हैं कि किसी भी मठाधीश के पास हाथी, घोड़े, गाड़ियाँ, सोना, चाँदी, रुपये, भूमि धनी भक्त चेले जैसे–जैसे आये वैसे उसे विष्णु भगवान् की चिन्ता से छुड़ा कर न्यायालयों के प्रतीक्षास्थलों पर बैठने का आदी बना दिया। देश में ऐसे उदाहरणों की भरमार है। लोग फंसते जरूर हैं पर फंसने वाले और देखने–सुनने वाले स्वयं को और अपनों को बचाने का विचार तक नहीं करते। क्योंकि फंसना ही पुरुषार्थ माना जाता है। फिर भी बुरे फंसे मठाधीश परमार्थ की चर्चा जरूर करते हैं। क्योंकि वह तो उनकी दिनचर्या में आता है।

कण्ठे श्रोत्रे बाहुयुग्मेऽपि लग्नम्
भूमौ लीनं देवमूर्तौ निलीनम्।
गच्छत्खेदं दीर्घकालम्प्रयच्छत्
पापं वित्तम्पापहस्तेषु याति।।८।।

पापमय धन गले का हार बना हो, कानों का कुण्डल बना हो, चाहे बाजू बन्द या कंगन बना हो या वह धरती में गाड़ कर रखा हो या देवमूर्ति के अन्दर छिपा हो वह समय आने पर अपने स्थान से हटता ही है, वह जाते समय लम्बे समय तक के लिए दुःख देता हुआ वैसे ही पापमय हाथों में पहुँच जाता है जैसे पाप से वह आया होता है। इसी से उक्ति प्रसिद्ध है कि–"अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति, प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे सहमूलं विनश्यति" अन्याय का धन स्वयं जाते समय वह धन भी ले जाता है जिस माध्यम से वह आया होता है।

जन्मन्यन्यस्मिन्यदन्याययुक्तं
वित्तम्भुक्तन्तच्च देहान्तरेऽत्र।
रोगं शोकं बन्धनं वा विरोधम्
मार्गं कृत्वा सानुबन्धं व्यपैति।।६।।

देखा जाता है कि लोग अन्याय से धन अर्जित करते, उपभोग करते और बिना कोई दण्ड पाये ससम्मान इस जगत् से विदा हो जाते हैं। अन्याय का धन तो शरीर तक ही सम्बन्ध रखता होगा, शरीर छूटने के बाद उस धन के अलग होने की स्थिति बन नहीं पाती इससे उपर्युक्त वचन केवल भावुकता पर निर्भर समझा जा सकता है। इस प्रश्न पर उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं है, पिछले जन्म के धन का संस्कार अगले जन्म में अपने उपार्जन के तौर, तरीकों के साथ अपने बुरे परिणाम देने के लिए जारी रहता है। इसीसे व्यक्ति के आहार, विहार और व्यवहारों में अन्तर देखा जाता है। पिछले जन्म में अन्याय से जितना धन अर्जित उपभुक्त उपयुक्त निक्षिप्त और उपेक्षित भी होता है वह सारा का सारा अपने पापमय और आंशिक पुण्यमय भी संस्कारों के रूप में अगले जन्म में जाता है और उसका वही संस्कार नाना रोग, शोक, बन्धन (ज्योतिष की भाषा में पाशयोग जो सातों ग्रहोंके पाँच राशियों में रहने से बनता है वह या जेल जाने की स्थिति या जेल में विधिवत् रहना) अथवा अशान्ति कायम रखने वाला संघर्ष उत्पन्न करता उपभोग कराता और उपभोग पूरा होने पर अपने सहकारी अपराधों के साथ जाता है।

प्राचीन पाप अपने आश्रयभूत चेतन को छोड़ कर जाने के माध्यम के रूप में रोग आदि उत्पन्न करते हैं।

यावद्दुःखं देहतो दैवतो वा
भूतेभ्यो वा प्राप्यते प्राणिवर्गैः।
हेतुर्वित्तं तत्र साक्षादसाक्षाद्
बन्धे हेतुर्वित्तमेवास्ति साक्षात्।।१०।।

संसार बन्धन का प्रमुख कारण धन ही होता है यह सूचित करते हुए कहते हैं कि कोई भी प्राणी दैहिक दैविक या भौतिक जो भी दुःख पाता है उसमें कारण साक्षात् या परम्परया धन ही होता है। धन को संसार बन्धन का साक्षात् कारण मानना चाहिए। अज्ञान उसका माध्यम होता है।

एवं जानाना मुनीन्द्रा द्विजेन्द्रा
विद्वद्वर्या उञ्छचर्या बभूवुः।
चाणक्यो वा रामदासः समर्थो
दृष्टान्तोऽत्रार्थेऽवसेयो वसिष्ठः।।११।।

उपर्युक्त अर्थ पर ध्यान रखने वाले श्रेष्ठ मुनिजन, उत्तम विप्रजन एवं अन्य भी शास्त्रीय संस्कारों से युक्त महापुरुष उञ्छवृत्ति वाले हो गये। उदाहरण के लिए हमारे चाणक्य और समर्थ रामदास हैं जो राष्ट्र की समग्र राजनीतिक सेवा करते हुए भी अर्थ से बहुत दूर रहते थे। हमारे प्राचीन मुनि वसिष्ठ तो हैं ही जिन्होंने समाज को भ्रान्ति से बचाने के लिए, धर्म की व्यवस्था कायम रखने के लिए, मुनि विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि की उपाधि तब तक नहीं दी जब तक उन्होंने अपने शुद्ध अन्तःकरण से उनमें ब्रह्मर्षि के योग्य तप की पूर्ति नहीं देख ली। पूर्ति देखने पर पिछले महान् विद्वेष की अवस्था भूल कर उन्हें ब्रह्मर्षि घोषित कर दिया। त्याग, तप और संयम का इतना महान् उदाहरण विश्व में दूसरा नहीं है।

।। वित्तदोषगुच्छ समाप्त।।

• अथ समतागुच्छः •

प्रश्नः—एषा मृगाक्षी मुखचन्द्रिकाभि—
श्चित्ते ममान्धन्तम आतनोति।
अनुद्धताऽस्याश्च गतिर्मदन्तः
कम्पं सशंकञ्च कथं करोति।।१।।

हमारे चित्त में राग और रोष तराजू के दो पलड़ों की तरह होते हैं। बाहरी घटनाओं से प्रभावित चित्त किसी एक पलड़े को बल देता है। इससे समता की स्थिति बहुत कम हो पाती है। किन्तु तत्त्वबोध समता की स्थिति में ही हो पाता है। कक्षा में बैठे शान्तचित्त छात्र ही शिक्षा ले पाते हैं। इससे समता का भाव वाञ्छनीय है। इसके लिए धैर्य होना चाहिए। मन को आन्दोलित करने वाली घटना के समय भी मन तत्त्व में ही स्थित रहे यही धैर्य कहा जाता है। लौकिक अर्थों में मन का आन्दोलन भ्रान्ति से होता है। भ्रान्तियाँ न हों, मन सम भाव में ही रहे यह सज्जन चाहते हैं। इसी के लिए समता गुच्छ प्रस्तुत है। कोई अपने मित्र से पूछता है कि यह मृगनयनी अपने मुँह की चाँदनी से मेरे हृदय में गहरा अन्धेरा फैला रही है और इसकी धीमी

चाल मेरे हृदय को कम्पित और शंकायुक्त करती है, ऐसा क्यों है ? इस पर वह उत्तर देता है।

उत्तरम्–कस्यापि हेतोः कतिचित्क्षणार्थम्
भोगाय रोगाय च कल्पितेयम्।
नैषा त्वदर्था परभोज्यमन्नं
दृष्ट्वा सतृष्णाः शुनका भवन्ति।।२।।

उत्तर में मित्र कहता है कि किसी अनजान व्यक्ति के लिए, उसके कुछ ही क्षणों तक भोग के लिए और बाद में रोग के लिए यह विधाता के द्वारा बनायी गयी है। प्रकृति से यह तुम्हारे लिए नहीं बनी है, इसके तुम्हारे लिए बनी होने में कोई प्रमाण नहीं है। दूसरों के भोजन के लिए बना अन्न देखकर उसके प्रति लालची कुत्ते ही होते हैं। तुम अपने मन में होने वाले इस विकार का कारण समझो।

नैषा त्वदीया भगिनी न माता
नास्याः पतिस्त्वज्जनकादितुल्यः।
नाप्तेश्वरेक्षा स्थिरजङ्गमेषु
भूतेषु तेन स्थितिरीदृशी ते।।३।।

यह तुम्हारी बहिन नहीं हो सकी, न माता हो सकी, न इसका पति तेरे पिता आदि के तुल्य है इससे यह तेरी माता के तुल्य भी नहीं हो सकी। इतना अवश्य है कि यह एक मातृशक्ति है, कोई इसके गर्भ में पलेगा, उसके प्रति यह वत्सला होगी। जगज्जननी महामाया की ही यह प्रतिनिधि है। इसके माध्यम से हम विश्वशक्ति के प्रति समर्पित होकर कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। वेदादि ग्रन्थों से यह प्रमाणित है कि विश्व के अणु–अणु में परमात्मा का नियन्त्रण और उपभोग भी है। ऐसी स्थिति में हम जहाँ भी स्पृहा करते हैं वह परमात्मा के द्वारा पहले से ही भोगा जा रहा है। यदि हमें कुछ मिलता है तो वह वत्सलतर परमात्मा के करकमलों से ही अपनी सन्तुष्टि के लिए परोसा जा रहा है। ऐसी स्थिति में जीवों का स्वतन्त्र भोक्तृत्व कहीं नहीं है। ऐसी दुर्लभ मंगलमय धारणा तुम्हारी पहले से होती तो इसे देखकर तुम विचलित नहीं होते। कंटीली झाड़ियाँ और गन्दी नालियाँ हमें सम्हल कर चलने को विवश करती हैं ऐसे ही काम, क्रोध के सारे आलम्बन तत्त्वदर्शन के लिए प्रेरणा देते हैं।

बाल्यं युवत्वञ्च जरा विकारो
देहस्य चित्तेऽपि च तत्प्रचारः।
देहादिभिन्नं गतसर्वचिह्नं
श्रीशम्प्रपन्नं स्वमवेह्यखिन्नम्।।४।।

अवश्य ही यह मनोविकार तुम्हारी युवावस्था का विकार है। यह शैशव में नहीं होता, बुढ़ापे में भी नहीं होगा। किन्तु तुम तो शैशव और जरा में भी तुल्य थे और रहोगे। अभी जवानी में किसी अज्ञात खिलौने के लिए मचल रहे हो। शैशव के खिलौने छूट चुके हैं, बुढ़ापे में जवानी के खिलौने भूल जाते हैं। खिलौनों की यह अदलाबदली प्रकृति का खेल है, तुम पुरुष तो सभी अवस्थाओं में असंग साक्षी मात्र हो। अपने इस सहज स्वभाव को समझो। तुम न कभी शिशु हुए हो, न युवा, न मध्य, न वृद्ध। ये विकार तो केवल प्रकृति में होते हैं। शरीर अन्दर से केवल प्राणों का सहयोग लेकर तमाशा बनता रहता है। इन्द्रियाँ लोक से शिक्षा लेकर अज्ञान से छूटने में सहायता के लिये हैं। मन अपने असंग स्वरूप के ध्यान के लिए है। बाहरी अर्थों में उलझाकर हम इसका दुरुपयोग करते हैं। शरीर की अवस्थाओं का अपने में आरोप करके हम स्वयं संसार बढ़ाते हैं किन्तु जब भी हम सावधान हो जाते हैं तो संसार हम से कोसों दूर हो जाता है। प्रकृति के विकारों से चैतन्यमय पुरुष की कोई पहचान नहीं बनती बल्कि प्रकृति ही पुरुष के प्राणों के सहारे अपनी पहचान बनाती, बदलती रहती है। पुरुष की पहचान तो परम पुरुष से होती है। यह उनके संकल्प से असंख्य लीलायें करता रहता है या इसके माध्यम से वे ही लीलायें करते रहते हैं। लीलाओं के लिए वे इसका मुख माया की ओर रखते हैं किन्तु इसकी थकान और परेशानी देखकर द्रवित होते और धीरे–धीरे अपनी ओर इसका मुह फेर लेते हैं तो यह महान् आनन्द के समुद्र की हिलोरें लेता रहता है। तब मुक्त कहा जाता है। मुक्ति इसका स्वभाव है और बन्धन है उपाधि।

प्रातः प्रबुद्ध्यात्मपदं विचिन्त्य
प्रणम्य देवन्त्रिजगच्छरीरम्।
शुभाशुभं रूपममुष्य सर्वम्
पश्यन् प्रसन्नश्चर तत्समक्षम्।।५।।

किसी का सारा दिन अच्छा तभी बन पाता है जब वह स्वयं को सुबह

ही ठीक कर लेता है। शरीर मन बुद्धि तीनों को ठीक करना पड़ता है, तभी मार्ग में पड़ने वाले ठोकरों से बचा जा सकता है। काम, क्रोध, ईर्ष्या, मोह आदि बनाने वाले तत्त्व किसी पत्थर के ठोकर से कम नहीं होते। इनसे बनने वाले हृदय के घाव जल्दी ठीक नहीं होते, बल्कि प्रायः बढ़ते ही जाते हैं। अपनी पूरी सुरक्षा के लिए प्रातः जगने के बाद अपने ज्ञानानन्दमय नित्य एकाकार असंग स्वरूप पर मनोयोग से कुछ देर तक चिन्तन करके अपने अत्यन्त प्रिय स्वामी उन परमात्मा को, जिनका यह तीनों लोक एक शरीर है, प्रणाम करके शुभ या अशुभ जो कुछ उपलब्ध होता हो उसे उन परमात्मा का ही रूप मानते हुए, सदा सर्वत्र उनका ही दर्शन होते रहने से, निरतिशय प्रिय रूप की निरन्तर उपलब्धि होते रहने से सदा प्रसन्न रहते हुए जहाँ भी जाओ, उन्हें ही पाओ और जो भी करो वह उनके समक्ष ही समझते हुए करो। उनका विस्मरण कभी न होने से कोई ठोकर काम की, क्रोध की, लोभ की, मोह की, ईर्ष्या की, असूया या मद या मत्सर की नहीं लगेगी।

प्रश्नः—अयं धनी दुश्चरितेषु वित्तं
ददन्न सद्भ्यस्तु पणं ददाति।
विलुण्ठय पात्रेष्वखिलन्तु वित्तं
देयम्मयाऽस्येति दृढा मनीषा।।६।।

कोई भावुक युवक अपने मित्र से कहता है कि यह धनपति बुरे कर्म वालों को तो धन देता रहता है किन्तु सज्जनों को एक पैसा भी नहीं देता। मेरा पक्का विचार बन चुका है कि इसका सारा धन लूट कर पात्रों में बाँट दूँ।

उत्तरम्—न ते यथार्थः सदसद्विवेकः
कृतोऽसि नो राजपदाधिकारी।
असज्जनान्नप्रतिपादनेन
सन्तोऽप्यसन्तो न विधातुमेष्याः।।७।।

मित्र उत्तर देता है कि तुम जो सज्जन और असज्जन का भेद मान रहे हो वह तुम्हारी मान्यता अधूरी है। जिन्हें तुम सज्जन मानते हो उन्हें बुरे धन से अरुचि होती है जब कि असज्जन बुरा ही धन ढूँढा करते हैं। तुम जो लूटपाट और वितरण की इच्छा लिए हो वह तुम्हारे अधिकार की बात नहीं है। कोई राजकीय पदाधिकारी अन्याय के धन की पहचान और हरण कर सकता है। बुरे व्यक्ति का बुरा धन लेकर भले को देने से उस धन के द्वारा

भला भी बुरा हो जायेगा। यह नियम पुराना है। इससे अपना विचार छोड दो।

धात्रा समस्तान्नकणेषु भोक्तु—
र्नामानि पूर्वम्परिकल्प्य पश्चात्।
तदाप्तियोग्यायतनेषु धृत्वा
ददाति सर्वं सदसत्प्रकारैः।।८।।

तुम जिस धनपति को और उससे धन पाने वालों को देख रहे हो वह एक ईश्वरीय व्यवस्था है। वह व्यवस्था बहुत दूर से बनती है। जिस उपभोक्ता को लक्ष्य करके कोई अन्न उत्पन्न होता है उसमें उसका नाम अदृश्य अक्षरों से पहले से लिखा होता है। उन अक्षरों को उपभोक्ताओं के प्रारब्ध कर्म पढ़ते हैं और जहाँ से जिस वैध अवैध उपाय से वह आहार उन्हें मिलना होता है वैसे ही उनके कर्म उन्हें पहुँचाते हैं। तुम्हारे जैसे विघ्नकारी उपाय तभी फलते हैं जब उनके कर्म उन्हें वह आहार देने की स्थिति में नहीं होते। यानी उनके शुभाशुभ कर्म ही तुम्हारे जैसे स्वयम्भू मनीषियों को भारवाही घोड़ों गदहों की तरह जोतते हैं।

नैवान्यवित्तेषु मतिर्विधेया
स्वीयेषु चाप्यस्तु न रूढरागः।
लब्धेन तोषः सुपथैव लाभो
वित्तस्य भूयाद्भविकात्मनस्ते।।९।।

इस स्थिति में तुम्हारे जैसे कल्याणकामी पुरुष को चाहिए कि पराये धन पर ध्यान न दें। अपने धन पर भी ज्यादा आसक्ति न रखें, क्योंकि उस धन का कब कैसा उपयोग होना है यह पता किसी को नहीं रहता। उस सम्बन्ध में विचार भी बदलते हैं, कट भी जाते हैं। जितना धन अपने पास आया हो उतने से ही सन्तोष रखो। वह लाभ भी सन्मार्ग से ही हो यह ध्यान रखो।

रागेण रोषेण कृतं समस्तम्
बन्धाय कर्मेति सुधीर्विजानन्।
श्रीशस्य सेवात्मतयैव कार्यं
करोति नित्यं गतसङ्गदोषः।।१०।।

विवेकी पुरुष यह जानता है कि राग से या द्वेष से या दोनों से किया गया कोई भी कर्म संसार बन्धन का कारण बनता है। इससे वह भगवान्

श्रीपति के सन्तोष मात्र को लक्ष्य करके कोई भी कर्म करता है। वह कभी अपने विधेय कर्म में या उसके सहकारी में या फल में या उत्तर परिणाम में तनिक भी आसक्ति नहीं रखता। इससे किये कर्मों से उसे कोई बन्धन नहीं होता, बल्कि तत्त्वबोध का क्रम जारी रहने से पिछले बन्धन शिथिल और नष्ट होते जाते हैं।

प्रश्नः—अयं रिपुर्बाल्यत एव मह्यं
द्रुह्यत्यसंख्याहितचेष्टितानि।
तनोति—मर्माणि भिनत्ति वाग्भि—
र्मृत्युर्मयाऽस्य त्वरया विधेयः।।११।।

कोई अपने मित्र से कहता है कि यह मेरा शत्रु है। यह अपने बचपन से ही मुझसे द्रोह करता है और असंख्य ऐसी चेष्टायें बढ़ाता रहता है जिससे मेरा अहित हो, साथ ही कठोर वचनों से मेरे मर्म भेदता रहता है, अब इसका एक ही उपाय बचा है कि जल्दी से मैं इसकी मृत्यु करा दूँ।

उत्तरम्—त्वत्पातकानाम्फलदानहेतोः
सृष्टो विधात्रा तव शुद्धिहेतोः।
यथा नियुक्तः परमेश्वरेण
सञ्चेष्टते तद्वदयन्त्वदर्थम्।।१२।।

उत्तर में मित्र कहता है कि तेरे पुराने पापों के फल देने के लिए, पापों से तेरे छुटकारे के लिए, परमात्मा ने इसे बनाया है, उस परमात्मा ने इसे तेरे प्रति जैसे कामों के लिए लगाया है, वैसे ही कार्य यह तेरे लिए कर रहा है।

छिद्राणि देहे नवसङ्ख्यकानि
पृथक् पृथक् कार्यकराणि सन्ति।
तथैव मित्राण्यरयः समाश्च
सृष्टा विधात्रैव न नो वशास्ते।।१३।।

उक्त बात को ही दृष्टान्त से समझाते हैं कि शरीर में नव छिद्र बने हैं जो अलग—अलग काम करते हैं, हमें भले उनके कुछ काम अच्छे न लगें पर जीवन के लिए वे जरूरी हैं। ऐसे ही जीवन के लिए मित्र सम शत्रुओं की आवश्यकता होती है, वह समझ कर ही परमात्मा ने इन्हें बनाया है, ये कभी हमारे वश में नहीं हो सकते।

छिद्रस्य कस्यापि गतिं न हन्यात्

सर्वाणि देहस्थितिकारणानि।
यथैव मित्राणि तथाऽरयोऽपि
संसारमार्गे गति साधनानि।।१४।।

उक्त बात को ही पूरी करते हैं कि शरीर के किसी भी छिद्र के काम को रोका नहीं जाता, वे सारे ही जीवन की स्थिति रक्षा और प्रगति के कारण हैं। जैसे मित्र हमारी प्रगति में प्रत्यक्ष सहायक हैं वैसे ही शत्रु भी हमारी प्रगति में परम्परा से या पर्दे से सहयोगी होते हैं।

मित्राणि काले विमुखीभवन्ति
सुहृत्त्वमायान्त्यरयोऽपि काले।
समस्तथैवान्यतरत्वमेति
द्वेषो न रागश्च ततस्तु धार्यः।।१५।।

मित्रता और शत्रुता तो बदलने वाली उपाधियों से होती है। यह कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं होता। मित्र समय पर उदासीन हो जाते हैं, समय पर शत्रु भी मित्रता बना लेते हैं, जो सम रहता है वह भी किसी दूसरे पक्ष में आ जाता है, इससे उचित यही है कि किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष या राग न रखें, उसके तात्कालिक हिताहित बर्तावों को भगवान् की ओर से हो रहे जानें।

कस्यापि नो जन्ममृती वशे नो
निमित्तमात्रम्भवतीह जन्तुः।
शृंगाग्रतोऽहन् महिषो मनुष्यं
तथा हठात्कञ्चन कोऽपि हन्ति।।१६।।

उक्त अर्थ को ही दृढ़ करते हुए कहते हैं कि किसी का जन्म या मरण हमारे वश में नहीं है। संसारी जीव किसी के जन्म में या मृत्यु में निमित्तमात्र होता है। जैसे कोई भैंसा कभी किसी मनुष्य को अपनी सींग की नोक से मार डालता है। उस समय उस भैंसे को कोई रोक नहीं पाता फिर भी यह तो मानना ही पड़ता है कि भैंसा उस व्यक्ति को समझ नहीं पाया। अपनी क्षणिक गलत समझ से ही उसे मार डाला। यही हठ कहलाता है। मानव भी हठ से ही किसी को शत्रु मानता और मार डालता है। धर्म युद्ध में भी कम से कम किसी एक पक्षमें हठ की प्रधानता होती है। काल एक अज्ञान उत्पन्न कर देता है, वह अपना भला, बुरा परिणाम दिये बिना नहीं जाता। वही हठ कहलाता है।

शुभाशुभं कर्म भवांश्च सत्यम्
मिथ्याऽरयस्ते सुहृदोऽपि मिथ्या।
सत्यस्य सत्यं सुहृदं त्रिलोक्याः
सन्धारयाविघ्नपदं त्वमन्तः।।१७।।

समता का प्रधान आलम्बन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह सारा जगत् जो कि प्रतिक्षण बदलता रहता है इसका मूल चेतनों के शुभाशुभ प्रारब्ध कर्म हैं। जगत् की अपेक्षा कर्म अधिक सत्य हैं, उन कर्मों के कर्ता और उनके संस्कारों के आधार चेतन उन कर्मों से भी अधिक सत्य हैं किन्तु चेतन का ज्ञान बदलता रहता है इसीसे वह जगत् में भला या बुरा होता या माना जाता है और उस बदलाव से ही उसे नाना भोग मिलते रहते हैं। उन सारे भोगों की पूरी व्यवस्था अनादि काल से कायम रखने वाला परम चेतन तत्त्व परमात्मा पिछले सारे सत्यों का भी सत्य हैं जो कि तीन लोकों में अनन्त अवस्थाओं में रहते हुए नाना कर्म और भोग प्राप्त कर रहे चेतनों की पूरी देख भाल उनके प्रति केवल सुहृद भाव से सदा से कर रहे हैं। मेरे प्यारे मित्र ! तुम उन्हें अपने हृदय में धारण करो, तभी सारे विघ्न टलेंगे। अन्यथा भ्रान्तियाँ होंगी, कर्म होंगे, अज्ञान आयेंगे, शुभ अशुभ फल भी मिलते ही रहेंगे।

।। समतागुच्छ समाप्त।।

• अथ समाधान गुच्छः •

प्रश्नः—आजन्म कस्यापि मयाऽपकारो
नानुष्ठितोऽन्याय्यधनञ्च नात्तम्।
पुत्रा मृताः सन्ततरुक्छरीरं
न कोऽपि मित्रं रिपवस्तु कस्मात्।।१।।

उक्त समता का भाव कभी विघटित न हो इसके लिए प्रायः अज्ञान वश उत्पन्न होने वाले दो प्रश्न और उनका विशद समाधान कर रहे हैं। अपने पिछले जन्मों की कल्पना भी न कर रहा कोई व्यक्ति वर्तमान में हो रहे अनिष्टों का कारण पूछता है कि मैंने जन्म के बाद से आज तक किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा है, न मैंने अन्याय का धन बटोरा है। फिर भी मेरे कई पुत्र मर गये और इस शरीर में रोग सदा रह रहा है, फिर भी कोई सहायक मित्र नहीं मिलता और शत्रु होते ही रहते हैं। ऐसा क्यों होता है ?

उत्तरम्—जात्यायुषी भुक्तिरपि प्रदिष्टा
प्राग्जन्मनः सर्वजनस्य धात्रा।
तदेव भुक्त्वा कृतमत्र धृत्वा
देहान्तरं गच्छति सर्वजन्तुः।।२।।

मित्र उत्तर देता है कि इस संसार के सारे चेतनों की जाति (शरीर और मन आदि की असाधारण बनावट) और आयु साथ में भोग भी (नये कर्म भी भोग के अन्दर होते हैं) विधाता जन्म से पहले ही बना चुके होते हैं। चेतन इस जगत् में दी गयी आयु के अनुसार ठहर कर पहले के किये कर्मों के फल भोग कर (अगले प्रारब्ध के अनुसार) अगले शरीर में प्रवेश करता है।

मृताः सुताः प्राग् रिपवोऽर्थदा वा
फलाय पापस्य रुजाऽरयश्च।
पुण्यस्य मित्रं समये समेऽपि
दत्वा फलान्यन्यदिशो व्रजन्ति।।३।।

उत्तर पूरा करते हुए कहते हैं कि जो पुत्र मर गये वे पिछले शत्रु रहे होंगे जो पिछले पापों के फल पूरे करने आये होंगे। या उन्होंने पहले धन दिया होगा जिसे वर्तमान भोग के रूप में वसूल करने आये होंगे। इसी प्रकार जो रोग नहीं छूट रहा है और दुश्मन नये होते रहते हैं यह दोनों पिछले पापों के फल पूरे कर रहे हैं। ऐसे कोई जो मित्र कभी आता होगा वह पिछले पुण्य का फल देने के लिये ही आता होगा। इस प्रकार समय आने पर अपने—अपने फल दे दे कर दूसरी दिशाओं को सारे लोग चले जाते हैं। यही संसार है।

सेतुः परात्मा भविनां कृतानाम्
फलप्रदानेऽनलसोऽनुपेक्षी।
सत्कर्महेतोः प्रयतेत जन्तुः
फलव्यवस्था तु न शङ्कनीया।।४।।

श्रुतियों में ''एष सेतुर्विधरणः'' इत्यादि अनेक वचनों से परमात्मा को सेतु कहा गया है। सेतु को हिन्दी मं बाँध कहते हैं। संस्कृत का बन्ध हिन्दी में बाँध बन गया है अंग्रेजी में इसे पुल कहा जाता है। यह शब्द भी संस्कृत के ''पुल उच्छ्राये'' धातु से बना है। गंगा आदि नदियों पर बने पुल प्रसिद्ध हैं। अंग्रेजी के इस पुल और हिन्दी के बाँध में बहुत अन्तर है। पुल पानी की सतह से बहुत ऊपर होता है जब कि बाँध भूमि पर ही, पानी को रोकने के लिए

बना होता है। संस्कृत में दोनों को सेतु कहते हैं। लंका सेतु समुद्र के जल के अन्दर से पत्थर बैठाकर अच्छी कारीगरी से बनाया गया था जिसका वर्णन वाल्मीकीय रामायण में विस्तार से है। पत्थरों के तैरने की बात वहाँ नहीं आयी है। हमारे भगवान् लंका सेतु और गंगा सेतु दोनों के जैसे काम करते हैं। विश्वसृष्टि और उपसंहार के जितने भी नियम उनके हैं उनकी मर्यादाओं की रक्षा वे सतत तत्परता से करते हैं। वे कुछ भक्तों को संसार सिन्धु का स्पर्श हुए बिना ही पार लगा देते हैं तो कुछ को लंका सेतु की तरह संसार सिन्धु के अन्दर के नियम रूपी बाँध के द्वारा पार करा देते हैं। अधिकांश को उनके पाप पुण्यों के फलों की सीमायें घटने–बढ़ने नहीं देते वहाँ मेड़ का काम करते हैं। मेड़ भी सेतु कही जाती है। हमारे भगवान् संसारी जनों के किये कर्मों के सेतु हैं। उन कर्मों के फलों की सारी सीमायें वे सम्हाले रहते हैं। जीव तो कर्म करके भूल जाता है किन्तु हमारे प्रभु उस कर्म को तब तक नहीं भूलते जब तक उसके पूरे फल उसे यथा समय उपलब्ध नहीं करा देते। फल लाभ के बाद भी उस कर्म का स्मरण उन्हें रहता होगा। भगवान् कुछ भूलते ही नहीं। पिछले कर्मों के तुल्य आगे भी वह चेतन कोई कर्म कर सकता है। इस बार उसका फल पहले से ज्यादा गम्भीर होगा। क्योंकि दूसरी बार कर्म में पहले से ज्यादा अभिनिवेश होगा। संकल्प के अनुरूप ही कर्मों का फल मिलता है। भगवान् कर्म के समय चेतन के हृदय में रहते हुए उसके संकल्प को अपने अचिन्त्य किसी मीटर से तौलते हैं और जब लम्बे से लम्बे अन्तराल के बाद भी शुभ–अशुभ फल देने लगते हैं तब उस संकल्प के वजन के अनुपात से ही देते हैं। फल प्रदान में वे न तो तनिक भी आलस्य करते हैं न किसी अंश की उपेक्षा करते हैं। इन तथ्यों पर ध्यान देकर पुरुष को चाहिए कि शुभ कर्म अधिक से अधिक शास्त्रीय रूप से करते रहने का प्रयत्न करता रहे और कर्मों के फल मिलने के बारे तनिक भी शंका न करे। फल मिलने में थोड़ी भी अव्यवस्था होने पर यह संसार कब का समाप्त हो चुका होता।

शुभाशुभानाम्प्रतिकर्म जीवः
करोति कार्यञ्च विचार्य धृत्या।
सदेव कर्मास्त्विति दुष्कृतानाम्
फलोदये साध्ववधारणीयम्।।५।।

चेतन का सारा कार्यक्रम क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में होता रहता है। ज्यादातर वह क्रिया के अनुरूप प्रतिक्रिया करता है। वह अनुरूपता तौलने में

ही ज्यादा रूचि रखता है किन्तु चेतन को चाहिए कि अपने कार्य को सदा ही निष्काम भाव से एक आदर्श रूप में करने का ध्यान रखे। विशेष कर उस समय जब कि पापों के फल मिल रहे होते हैं।

प्रश्नः–सन्तो विरक्ताः श्रुतिशास्त्रभक्ता
भवन्ति रक्ता विषयप्रवाहे।
वृद्धाः कुमार्यः सुभगाश्च नार्यो
गायन्ति गालीम् मिलिता विवाहे।।६।।

इस संसार में विषयों के प्रति आकर्षण सबको होता ही है। जीवित होगा तो आकृष्ट होगा, यह नियम व्यापक है। यह सिद्धान्त मानता हुआ कोई कहता है कि विरक्त सन्त और वेदादि शास्त्रों के भक्त विषयों की धारा में अनुराग रखते ही हैं, जैसे औरतें बूढ़ी हों या कुमारी हों या सुहागिनि हों वे सब एकमत होकर विवाह की गालियाँ गाती हैं।

शब्दादिधाराभरितेऽत्र लोके
वैराग्यसाधुत्वकथा वृथैव।।
प्रवृद्धनद्याम् प्रवहन् शिलाद्यै–
र्निरुद्ध्यते कोऽपि तथैव मोक्षः।।७।।

यह दुनियाँ शब्द आदि विषयों की धाराओं से भरा है। उनमें पुरुष के चित्त का डूबना स्वाभाविक है। इससे इस दुनिया में कोई विरक्त होता है या कोई साधु होता है ऐसा कहना या मानना व्यर्थ है। तब प्रश्न होता है कि कुछ लोग त्याग, तप आदि से माया के बन्धनों से मुक्त हुए सुने जाते हैं उनके बारे क्या मानना होगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि प्राचीन कोई कर्म अवरोधक बन जाता होगा जिससे कोई विषय प्रवाह में नहीं बह पाता, वही मुक्त माना जाता होगा। जैसे बरसाती नदी के तेज प्रवाह में बहता हुआ कोई व्यक्ति कभी किसी बड़ी चट्टान से टकरा कर रुक जाता है, मरता नहीं और समुद्र तक पहुँचता भी नहीं, ऐसे ही कोई किसी संयोग से माया से छूट भी जाता होगा किन्तु वह कोई अपवाद होगा। मुक्ति का कोई सामान्य नियम नहीं माना जा सकता।

उत्तरम्–मैवं, कथम्भ्रश्यति मुक्तनेत्रो
वान्तं कथं खादति यः पवित्रः।

वृद्धस्य नारी सुहितस्य भोज्यं
निवृत्तचित्तस्य वृथाऽर्थराशिः।।८।।

उक्त पूर्वपक्ष पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि ऐसा नहीं मानना चाहिए। देखता हुआ कोई गड्ढे में नहीं गिरता, अपनी उल्टी किये को कोई खाना नहीं चाहता, यदि होश में हो। किसी भी बूढ़े को कोई भी स्त्री आकृष्ट नहीं कर सकती, जिसका पेट भरा है उसे कोई भी आहार अच्छा नहीं लगता, न वह उसे चाहता है, ऐसे ही तत्त्वबोध से जिसका चित्त विषयों से विमुख हो चुका हो उसके लिए भोगों की सारी सामग्री व्यर्थ होती है।

नद्याम् प्रपातः शिलया निरोधो
नाकस्मिकः कर्मफलम्मतन्तत्।
मुक्तेर्नियन्ता हरिरेव साक्षात्
निर्धौतदोषस्य किलेष्यते सा।।९।।

प्रश्न में नदी में गिरना और चट्टान से अटकना जो दृष्टान्त बनाया गया है वह विचारणीय है। कोई बिना पूर्वकारण के बाढ़ में नहीं फँसता न बिना पूर्वकारण के बचाव के लिए चट्टान पा जाता है यह बहना और बचना दोनों पुराने कर्मों के फल हैं। यदि सारे लोग विषयों की धारा में बह रहे हैं तो वह भी खास–खास विषय पकड़ते हैं। विषयों की खासियत पुराने कर्मों की खासियत के द्वारा होती है ऐसे ही कोई ही बहता हुआ व्यक्ति चट्टान या और कुछ सहारा पाता है। वह सहारा भी मजबूत या ढीला, आरामदेह या क्लेशमय, एक ही या बारी–बारी से कई मिलता है। सहारे की खासियत भी पुराने कर्म की खासियत पर निर्भर होती है। कोई भी मुक्ति आकस्मिक नहीं होती। वह आकस्मिक लगे यह हो सकता है किन्तु वह होता है पहले के कर्मों के अधीन। जैसे कभी दो व्यक्ति मिलते हैं और सदा के लिए मित्र हो जाते हैं किन्तु अन्य दो ऐसे नहीं होते। इसमें कारण पूर्व कर्म ही होता है। चट्टान भी पूर्व सुकृत से मिलती है। मुक्ति के नियामक साक्षात् भगवान् हैं। किसी भी चेतन की किसी भी प्रक्रिया के द्वारा मुक्ति विश्व की बहुत बड़ी घटना होती है। परमात्मा छोटी–छोटी घटनाओं के भी नियामक माने जाते हैं तब मोक्ष अकस्मात् कैसे किसीको मिलेगा। वह तो उसे ही मिलता है जिसके चित्त के सारे दोष धुल चुके होते हैं।

यदा सदाचारिजनानुयानं
दोषस्य लोके सकलेऽपि भानम्।

तत्त्वानुचिन्ताऽऽर्जवयोगिचित्ते
भवेत्तदा संसृतिबन्धहानम्।।१०।।

मुक्ति की भूमिका बतलाते हुए कहते हैं कि जब आर्जव गुणवाला कोई साधक किसी सदाचार परायण व्यक्ति की चिरकाल सेवा करे। उससे ज्ञान प्राप्त करे जिससे सारे जगत् में दोष दर्शन होने लगे जिसका मन कहीं भी न टिकने की स्थिति में हो जाये और तत्त्वचिन्तन जारी रहे, तब संसार बन्धन का छूटना सम्भव होता है।

।। समाधान गुच्छ समाप्त।।

• अथ श्रद्धागुच्छः •

प्रारब्धानुगुणा नृणामभिरुचिर्लोके समुत्पद्यते
दृष्टार्थं यतमान आशुलभते जन्मान्तरे स्वार्जितम्।
कन्यार्थी निगडम्प्रपद्य मरणम्प्रेप्सुर्धनं विन्दते
वित्तार्थी मरणं गतो विधिवशाद् आप्नोति देहान्तरम्।।१।।

उत्तम कर्मों में श्रद्धा लाने के लिए जीवन में मिलने वाले शुभाशुभ कर्मफलों पर ध्यान उतारते हुए कहते हैं कि इस जगत् में लोगों को अपने इच्छित अर्थों पर जो रुचि उत्पन्न होती है वह वास्तव में अपने फल दे रहे प्राचीन प्रारब्ध कर्मों के सहकारी के रूप में होती है। यानी पुरुष प्रयत्न तो सामने की वस्तु के लिए करता है पर पाता है पहले से निर्धारित वस्तु। विवाह के समय कोई भी कन्या पसन्द आ जाती है पर वह जैसी समझी जाती है उससे विलक्षण ही भली या बुरी प्रमाणित होती है। राह चलते भली, बुरी अनेक वस्तुएँ मिल जाती हैं, भले–बुरे व्यक्ति मिल जाते हैं, प्रिय–अप्रिय घटनायें हो जाती हैं जिनकी हमें पहले से कोई कल्पना नहीं रहती है। यह सारी उपलब्धियाँ पूर्व अर्जित कर्मों का फल होती हैं। किसी भी व्यक्ति की पहचान उसके कर्मों से बनती है। उसके कर्मों के सफल और विफल दो भेद होते हैं। उसको मिले फल उसकी अच्छी पहचान बनते हैं। निःस्वार्थ भाव से होने वाले कर्मों के भी फल होते हैं जो कर्ता को बिना मिले भी पहचान बनते हैं। कोई मजदूर प्रतिदिन आठ घण्टे पानी पिलाता है। पीने वालों की लिस्ट उसके पास नहीं होती। मिलने वाली मजदूरी से उसकी पहचान होती है। श्रोताओं और पाठकों पर पड़ने वाली छाप से वक्ता और लेखक की पहचान होती है। रामचरित मानस पुस्तक की मुद्रण संख्या से आज गोस्वामी

तुलसीदास की पहचान बन रही है। अपने प्रयत्न से या बिना प्रयत्न के मिलने वाले धन से धनिक की पहचान होती है। मरने वाले की पहचान हम उसके अगले जन्म से नहीं कर पाते, इससे मृत्यु से ही उसकी पहचान करते हैं। मृत्यु पिछली सारी पहचानों को अपने में समेटती है।

नो कोऽप्यद्यतनभुनक्ति विभवम्प्राग्दिष्टमापद्यते
स्यात्कर्ताऽद्य नरः फलन्तु हरिणा प्रागेव निर्धार्यते।
तस्मात्सत्कृतये यतेत मतिमान् जानन् फलम् पौर्विकं
दुःखञ्चेदुपलभ्यते निजकृतं नाप्येत कस्मात् सुखम्।।२।।

पूर्वोक्त अर्थ को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति जो भी भोगसामग्री प्राप्त करता है उसका दृष्ट उद्यम अदृष्ट कर्मों का सहायक मात्र होता है। अदृष्ट के बिना दृष्ट सामग्री प्रस्तुत नहीं हो पाती। भोग सम्पादित कराने वाले रुचि त्वरा अपेक्षा आदि भाव भी अदृष्ट से बनते हैं। रुचि के अभाव में कुत्ते घास नहीं चरते, बैल, घोड़े हड्डी नहीं चबाते। तुरन्त किए हुए काम का फल पहले से प्रभु के द्वारा निर्धारित रहता है। इससे बुद्धिमान् को चाहिए कि आगे अच्छा पाने का भाव मन में रखता हुआ शुभ कर्मों के लिए ही प्रयत्न करे। सोचना चाहिए कि अमुक–अमुक दुःख यदि पहले के कर्मों के हैं तो सुख भी पहले के कर्मों के क्यों नहीं होंगे।

श्रद्धा सत्त्वरजस्तमोगुणमयी बोधं विभुत्वं शुचं
सूते सज्जनसंगतिःशुभकरी श्रद्धाह्यतः सात्त्विकी।
सन्तश्चेन्निकटे न सन्ति लिखिता ग्रन्थाः सुधीभिः सतां
संसेव्या विषयानपास्य मनसो धैर्येण मर्यादया।।३।।

सात्त्विक श्रद्धा के अभाव में उत्तम चर्चा से भी अच्छी रुचि नहीं होती न शुभ कर्म होते हैं, इससे उक्त श्रद्धा अर्जित करने के उपाय बतलाते हैं। जब चित्त में तमोगुण की प्रधानता होती है तब उस समय की श्रद्धा से दुःखमय भाव प्रमाद, मोह, शोक, चिन्ता आदि बनते हैं। रजोगुण से लोक संग्रह और अर्थ संग्रह होता है, किन्तु जब सत्त्वगुण विकसित होता है तब उससे तत्त्वबोध होता है और अज्ञान के कार्य शोक, मोह आदि दूर होते हैं। इससे सत्पुरुषों की संगति करनी चाहिए, उससे सात्त्विक श्रद्धा बनती है। सन्त न मिलें तो सन्तों के लिखे ग्रन्थों का परिशीलन, मर्यादित जीवन अपना कर, मन से विषयों का राग छोड़ कर, धैर्य से करना चाहिए।

उत्कृष्टे विषये रतिः शुभमतिस्फीता सतः सन्तता
श्रद्धोक्ता कृतिभि सतां शुभमतिः सत्संगतो जायते।
रागः श्रीशपदद्वये शुभधिया दैवेन चेल्लभ्यते
ध्यातुस्तूलसमं समस्तमशुभन्ततेजसा दह्यते।।४।।

श्रद्धा का लक्षण बतला कर उसका उपयोग बतलाते हैं। श्रवण, मनन चिन्तनों से किसी उत्तम अर्थ के प्रति बने स्थायी अनुराग को मनीषी जन श्रद्धा कहते हैं। उत्तम अर्थ के प्रति अनुराग किसी उत्तम व्यक्ति को ही होता है। यदि किसी व्यक्ति में सात्त्विक श्रद्धा लक्षित हो और उसका जीवनस्तर अच्छा न हो तो वह श्रद्धा विश्वसनीय नहीं होगी। अच्छी बुद्धि अच्छों के सत्संग से ही प्राप्त होती है। सबसे उत्तम अर्थ भगवान् के चरण हैं। यदि उनमें दैववश शुभबुद्धि से राग और श्रद्धा बन जाये तो उनके ध्यान से सारे अशुभ भाव अग्नि से रुई की भाँति जल जाते हैं।

बाल्यं क्रीडनकं जहाति सवयाः प्रौढो दृशोश्चापलं
वृद्धो लोकरतिं यथैव विजहत् स्वस्मै सयत्नो भवेत्।
द्रव्यज्ञान यशः सुधर्मभगवद्भक्तिप्रपत्तिक्रमात्
सत्संगान्नियमैस्तथा सुकृतिनां श्रद्धा समुत्कृष्यते।।५।।

बाल्य यौवन आदि दृष्टान्तों से मोक्ष के उपायों के संग्रह और त्याग के क्रम बतला रहे हैं। जैसे कोई युवक बचपन के साथ बचपन के खिलौने भी छोड़ देता है या प्रौढ़ अवस्था पा कर जवानी वाली मानसिक चञ्चलता छोड़ देता है एवं प्रौढ अवस्था वाली लोकसंग्रह की प्रवृत्ति को भी वृद्ध अवस्था आने पर छोड़ देता है, ऐसे ही आध्यात्मिक साधनापथ में हमारा मन द्रव्य संग्रह से हट कर ज्ञान की प्राप्ति में लगता है, फिर यशलाभ के उपायों में लगता है, फिर उससे विमुख होकर शुद्ध सात्त्विक धर्म करने में लगता है, आगे चलकर वही धर्मकार्य भगवद्भक्ति का रूप लेने लगता है, फिर वह भक्ति भी निष्कर्ष रूप शरणागति के अनुष्ठान में बदलने लगती है। इसी संग्रह और त्याग के क्रम से श्रद्धा का भी उत्तरोत्तर सुधार और सत्त्वगुण के विकास का भी क्रम बनता जाता है।

ते सन्तो हरिमेव ये त्रिभुवने पश्यन्ति बाह्यान्तरं
स्वस्माद्वा परतो हरेः क्वचन ये जानन्ति नैवान्तरम्।

शास्त्रार्थैकधियाम्मनाङ् न विषयो येषाम्मनः संस्पृशेत्।
दुःखे वाऽपि सुखे समानमतयो धीराः कृतार्थास्तु ते।।६।।

जीवन की कृतार्थता का निरूपण करने के लिए सन्तों का परिचय दे रहे हैं। सत्ता अर्थवाले अस् धातु से शतृ प्रत्यय होने से सन्तः सन्तौ सन्तः रूप बनते हैं। जिनकी सत्ता पूरी हो चुकी होती है उन्हें आदर से सन्तः कहते हैं। हिन्दी में विसर्ग मिट जाता है। यह सत्ता क्या चीज है ? सोचिए, होना और अच्छाई इन दो अर्थों में सत्ता शब्द चलता है। चेतन की सत्ता निर्विवाद हैं, वह नित्य एकाकार निर्विकार तत्त्व है ही इससे यहाँ उसकी अच्छाई माने गुणपूर्ति अर्थ लेना होगा। चेतन का प्रधान गुण ज्ञान है। निर्विकार चेतन के ज्ञान में विकार मान्य है। यहाँ धर्मधर्मी में एकात्मता मान्य नहीं है। निर्विकार चेतन तत्त्व ज्ञान के दोषों से प्रकृति की असंख्य अवस्थायें बटोरता छोड़ता इस जगत् में भटक रहा है। भटकाव मिटाने के लिए ज्ञान की पूर्ति वाञ्छित होती है। अध्यात्म ग्रन्थों में अज्ञान, ज्ञान, उसकी अपूर्णता और पूर्ति का विस्तृत विवरण मिलता है। यहाँ क्रिया से ज्ञानपूर्ति की पहचान बतलाते हुए सन्तों का वर्णन प्रस्तुत है। वे लोग सन्त हैं जो तीनों लोकों में भगवान् को ही बाहर और भीतर वर्तमान देखते हैं, वे स्वयं से और दूसरे व्यक्तियों से भी भगवान् में कोई अन्तर या भेद नहीं देखते, मानते। वेदादि शास्त्र उनकी बुद्धि को सर्वत्र प्रभु के ही दर्शन कराते हैं इससे स्वतन्त्र शब्दादि विषय उनकी बुद्धि को कभी तनिक भी छूते ही नहीं। दुःख या सुख के अवसरों में उनकी बुद्धि सदा एक सी रहती है, इससे वे धीर कहे जाते हैं, उनका ही जीवन सफल होता है।

श्रद्धासम्बलवान् परार्थसरणौ क्रामन्न संक्लिश्यते
योगिध्येयपदं विभात्यविकलं चित्ते सतां श्रद्धया।
श्रद्धा सत्त्वगुणोर्जिता श्रुतिसुधासारं सुखं गाहते
भाव्यं नित्यमतो जयाय जगतः श्रद्धालुना भूष्णुना।।७।।

सात्त्विक श्रद्धा का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि जिनके पास उक्त श्रद्धा का सम्बल है वे परमार्थ पथ पर चलते हुए कहीं थकते नहीं न क्लेश पाते हैं। सन्तों के चित्त में वह पद सदा प्रकाशमान रहता है जिसका ध्यान योगी जन ही करते हैं। सत्त्वगुण से बढ़ी श्रद्धा ही श्रुति के अमृत का निचोड़ आराम से पा जाती है, उसमें गोता लगा लेती है इससे जो लोग सिद्धि चाहते हैं उन्हें संसाररूपी अज्ञान को जीतने के लिए श्रद्धालु बनना चाहिए।

श्रद्धैका सुधियां सुखाय यदि सा नैवास्ति शास्त्रं वृथा
दृग्व्यर्था यदि लक्ष्यमस्ति न शुभं दोषापहं सद्गुणम्।
स्नेहं दुर्विषयेष्वपास्य सुधिया श्रीशः सुखं सेव्यतान्–
तस्मिन्नेव गुणा वसन्ति सकला दोषा मृषा तत्पदे।।८।।

विद्वानों को सुख शास्त्रों से नहीं बल्कि शास्त्रीय श्रद्धा से होता है, उसके बिना शास्त्र व्यर्थ होते हैं। वह दृष्टि बेकार है जिसे ऐसा कोई दृश्य नहीं मिला जो दोषों का वारण करे और अच्छे गुणों से भरपूर हो। दोषों को जीतने और अपने में गुण भरने का एक ही उपाय है कि लौकिक जड़ विषयों से मन हटा कर श्रीपति भगवान् का बिना क्लेश के सेवन करते रहें। उनमें ही सारे गुण निवास करते हैं, उनके चरणों के समक्ष, उनके स्थान पर, उनके स्वरूप के चिन्तन में सारे दोष मिथ्या हैं।

यच्छ्रद्धः पुरुषः स एव स इति प्राह स्वयं श्रीहरि–
र्वित्तादौ यदि साऽस्ति तर्हि जडतामाप्नोत्यलं चेतनः।
चैतन्यं गुरुशास्त्रवागुपगतम्प्रीत्या समादीयताम्
आवृत्त्या च निषेव्यतामलमतश्चिद्रूपताऽप्याप्यताम्।।९।।

श्रद्धा ही मानव का भविष्य सूचित करती है यह बतलाते हैं कि भगवान् कृष्ण ने गीता में ''यो यच्छ्रद्धः स एव सः'' ऐसा स्वयं कहा है। अर्थात् जिसकी श्रद्धा जैसी होती है वह वही हुआ करता है। यह बात मरने के बाद के लिए नहीं कही है बल्कि कह रहे हैं कि जो व्यक्ति जीवनकाल में जुए के पासों में प्रेम बाँधे है तो वह उस समय पासा ही है, यदि ठगी, धोखा, गद्दारी की योजनायें बना रहा है तो वह उस समय ठग धोखेबाज गद्दार ही है। मरने के बाद बदलने की सम्भावना कम रहती है। शराबी आगे भी शराबी होगा, चोर, ठग आदि या तो चोर ठग होंगे या जगत् में चोरी ठगी के जो नतीजे देखे जाते हैं वे ही उन्हें बहुत गुने होकर मिलेंगे। ऐसी स्थिति में यदि हम धन आदि जड़ द्रव्यों में मन लगाते हैं तो आगे हमारा मन जड़ ही होगा। इससे यह प्रेरणा मिलती है कि हम ज्ञानधर्मक चेतन गुरु वचनों और शास्त्र–वचनों से प्रेमपूर्वक अधिक चैतन्य प्राप्त करें। उस चैतन्य की बार–बार आवृत्ति करते हुए आनन्द लें और अपनी सहज चिद्रूपता को विकसित अवस्था में प्राप्त करें।

दृष्ट्वेदम्परिणामि दुःखजनकं विश्वं समस्तम्बुधैः
कृत्वा सत्वरमेव बाह्यविषयव्रातम्बहिश्चेतसः।
श्रुत्वा श्रौतमगाधतत्त्वममलम्प्रीत्या निवेश्यान्तरे
पीत्वा तं गुणगौरवामृतमलम्भूदैवतैर्भूयताम्।।१०।।

यह सारा संसार परिणामी और दुःखदायक दिखता ही है, हम इस तथ्य पर अपना ध्यान थोड़ी देर जमा सकते हैं। एवं संसार के दुःखवर्धक सारे विषयों को चित्त से बाहर निकाल सकते हैं, निकाल ही दें। श्रुतिप्रसिद्ध अगाध निर्मल तत्त्व को विधिवत् सुनकर हृदय में बैठा लें, फिर उसके गुणों के महत्त्व रूपी अमृत का पान किया करें, इस प्रकार अमृतपान कर रहे, पृथ्वी पर विचरण कर रहे देवता, भूदेव बने रहें, यह आसान और महान् पुरुषार्थ प्राप्त कर लें।

चेच्छ्रद्धा भगवद्गुणानुकथनेसत्संगतो जायते
सन्तश्चेदनिशम्भवन्ति परितः श्रीशार्पितस्वाः शुभाः।
प्रीतश्चेद्भगवान्ददात्यनुभवं स्वं सर्वदोषापहं
हन्ताप्तम्परमम्पदम्भगवतो युक्तोऽपिमुक्तोऽप्यहम्।।११।।

यदि सन्तों की संगति के फलस्वरूप भगवान् के गुणानुवाद में श्रद्धा हो गयी है, यदि भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पित शीलवान् सन्त आसपास उपलब्ध हों, यदि भगवान् प्रसन्न होकर सारे दोषों का नाश करने वाला अपना अनुभव प्रदान कर रहे हों, तब तो क्या कहना है, भगवान् का परम पद मिल गया, मैं योगी हो गया, मुक्त भी हो गया।

।। श्रद्धा गुच्छ समाप्त।।

• अथ प्रार्थना गुच्छः •

स्वामिन् ! सर्वान्तर्नियन्तः ! परात्मन् !
विश्वात्मन् ! विश्वेशवन्द्याङ्घ्रियुग्म !
विश्वोत्पत्तिस्थानसंहारहेतो !
शश्वत् सर्वप्राणिकर्माम्बुसेतो !।।१।।

प्रार्थना से प्रभु के प्रति उत्तम भाव बनते हैं, संसार के सम्बन्ध शिथिल होते हैं, बुरे भाव दबते हैं, कल्याण पथ प्रशस्त होता है, इससे इसका सर्वोपरि महत्त्व है। प्रार्थना के पद्य बहुत से ग्रन्थों में उपलब्ध हैं किन्तु यहाँ भाषा

अपना कुछ अलग ही अर्थ रखती है। अर्थ कुछ इस प्रकार हैं। हे सारे जगत् के और मेरे भी स्वामी ! स्वामी औपाधिक और निरुपाधिक दो प्रकार के होते हैं। निरुपाधिक स्वामी केवल परमात्मा हैं, बाकी सारे स्वामी औपाधिक हैं। स्व में जिस गुण धर्म से कोई स्वामित्व आता है वह उपाधि होता है। सेवा करने से कोई सेवक होता है, सेवा लेने और एवज में धन देने से कोई स्वामी होता है। दोनों ओर उपाधियाँ हैं। एक भी उपाधि के हटने पर स्वामित्व हटता है। किन्तु परमात्मा में सारे जड़ चेतन द्रव्यों के प्रति जो स्वामित्व है वह स्वरूपप्रयुक्त है। परमात्मा का स्वरूप न हटता है न बदलता है इससे स्वामित्व भी उनका नित्य है। जब तक वे हैं सारे विश्व के स्वामी ही रहेंगे। उनका अस्तित्व भी नित्य है इससे स्वामित्व के कभी न होने की सम्भावना नहीं है। सारा जड़चेतन जगत् स्थूल सूक्ष्म दोनों अवस्थाओं में परमात्मा का स्व है। स्वत्व का नियामक स्वगत कोई धर्म नहीं है। सारे धर्मों के परिणामी होने से नित्य स्वत्व का नियमन उनसे सम्भव नहीं है। चेतन का स्वरूप अवश्य नित्य है, वह उक्त स्वत्व का नियामक हो सकता, किन्तु है नहीं। क्योंकि जड़ द्रव्यों का स्वरूप परिणामी होता है, वह उक्त स्वत्व का नियामक नहीं होगा, तब परमात्मा का नित्य सत्यसंकल्प ही नियामक माना जायेगा, वह चेतनगत स्वत्व का भी हो सकता है, इससे चेतन का स्वरूप उक्त स्वत्व का नियामक नहीं होगा। यह सूक्ष्म अर्थ कम लोग ही समझ पायेंगे किन्तु इतना सभी लोग जान सकते हैं कि भगवान् अपनी नित्य इच्छाशक्ति से, सदा से, सारे जड़ चेतनात्मक जगत् का उपभोग अबाधरूप से करते आ रहे हैं। चेतन तत्त्वों का भी उपभोग वे उनकी सारी अवस्थाओं में करते ही रहते हैं, इससे जैसे कोई छड़ी हमारे उपयोग की वस्तु होती है, प्यारी होने से उपभोग की भी वस्तु वह है, ऐसे ही सारे चेतन तत्त्व परमात्मा के उपभोग की वस्तु हैं। चेतनों को इस तथ्य का पता क्यों नहीं है ? उत्तर है कि "अहम् अन्नम्" इत्यादि श्रुतिवचन प्रमाण जब किसी सदाचार्य की कृपा से मिलते हैं तो पता चल जाता है। प्रमाणों से ही तो चेतन कुछ समझ पाता है। केवल अपने आपके होने के बारे वह कभी कोई प्रमाण नहीं ढूँढ़ता। वह स्वयं को सदा जानता ही है। इसी से स्वयम्प्रकाश कहा जाता है।

नियमन या उपभोग की पूर्ति स्व के सारे पहलुओं पर अधिकार से होती है। चरवाहा अपने बैलों को हाँकता चराता जाता है लेकिन उनके अलग–अलग स्वभाव अवस्था रंग आदि पर उसका अधिकार नहीं होता। वह कभी नहीं कह सकता कि मैंने इसे जन्म दिया या रंग दिया या अवस्था दी इत्यादि। बैलों

पर उसके अधिकार बहुत सीमित हैं किन्तु भगवान् गोविन्द का उन पर परिपूर्ण अधिकार होता है। यद्यपि कर्मों के अनुसार ही वे भी सारे परिणाम देते हैं किन्तु उन कर्मों के क्रम केवल वे ही जानते हैं। इससे चेतनों के शरीरों के समान उनके मन बुद्धि चित्तों पर भी उनका पूरा नियन्त्रण रहता है, इसी से वे सर्वान्तर्यामी कहे जाते हैं।

जैसे कोई संसारी चेतन अपने शरीर मन और इन्द्रियों पर ज्ञात, अज्ञात बहुत कुछ नियन्त्रण रखता है वैसे हमारे परम आत्मा उनके शरीर आदि के साथ सारे चेतनों पर भी सदा से पूरा नियन्त्रण जारी रखे हैं। उनके समान सक्रियता अन्यत्र दुर्लभ है, फिर भी वे अत्यन्त निष्क्रिय भी हैं। उनके संकल्प मात्र से सब कुछ होता रहता है, इसे ही कतिपय वेदान्ती दृष्टि सृष्टिवाद कहते हैं। यहाँ उन्हें परम आत्मा या परमात्मा कहा गया है। जब संसार का कोई उपकरण नहीं था तब भगवान् ने अति सूक्ष्म मूल प्रकृति से कुछ निकाला, उसमें शब्द जैसा कुछ मालूम हुआ। भगवान् को वह बहुत अच्छा लगा, तब उसमें घुस गये। विभु द्रव्य परमात्मा का कहीं घुसना या निकलना सम्भव नहीं है इससे यहाँ वायु आदि सृष्टि का संकल्प लेकर घुसे ऐसा मानना चाहिए। संकल्प का क्षेत्र विभु परमात्मा में भी उपादानतानियामक आकाशत्व तक ही रहा, यही प्रवेश का अर्थ है। प्रवेश होने से परमात्मा ने स्वयं को आकाश माना, आगे इसी क्रम से वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि की सृष्टि और उस–उस नये तत्त्व में परमात्मा का अनुप्रवेश और उनके द्वारा स्वयं को वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि मानने का क्रम जारी हुआ। वह क्रम अभी भी जारी है। इसी से ''यो माम् पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति'' जो मुझे सब में देखता है और सब कुछ मुझमें देखता है, उससे मैं, कभी दूर नहीं होता इत्यादि वचन भगवान् ने कहे हैं। विश्व सृष्टि की उक्त प्रक्रिया से यह सारा विश्व परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है। अति सूक्ष्म अदृश्य आत्मतत्त्व शरीर के द्वारा ही जाना, माना जाता है। ऐसे ही आत्मा से भी सूक्ष्म परम आत्मा की अभिव्यक्ति आकाश, वायु, जल आदि के रूप में तो है ही, देव, मानव, पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष, लता, तृण आदि के रूप में भी है। यह बात हम कह सुन तो लेते हैं किन्तु मानते नहीं हैं। हमारी बुद्धि कटी रहती है। प्रधान अर्थ परमात्मा को छोड़कर, आत्मा (जीव) को भी छोड़ कर केवल जड़ शरीर और उसकी विशेषताओं तक ही हमारी बुद्धि काम करती है। किसी सदाचार्य की कृपा से नाना शास्त्र वचनों से जगत् में सर्वत्र आत्मा और परमात्मा का ज्ञान होता है। उसके बाद ही कल्याण का मार्ग मिलता है। उससे पहले हम

क्लेशमय संसार रूपी जंगल में भटकते रहते हैं। भटकाव से ऊपर उठे महापुरुष जगत् को परमात्मा की कल्याणमयी मूर्ति के रूप में सदा श्रद्धा और अनुराग से देखते हैं। उनकी दृष्टि के अनुसार परमात्मा को विश्वात्मा कहा जाता है। यहाँ भी विश्वात्मन् ! सम्बोधन है।

अनन्त विश्व के अन्दर प्रभु ने बहुत से विश्वेश भी बनाये हैं। विश्व के एक देश का स्वामी भी स्वयं को विश्वेश ही मानता है। कभी–कभी तो स्वामी को भूल कर उनसे टक्कर भी ले लेता है पर होश में आने पर उनके दोनों चरणों की अतिशय श्रद्धा से वन्दना भी करता है। इस प्रसंग में भगवान् कृष्ण की गोवर्धन लीला और पारिजात हरण लीला ध्यान देने योग्य है। परमात्मा का स्वरूप विभु है, कहीं जाना, प्रवेश या निकास उनके लिए सम्भव नहीं है। फिर भी उनके एक देशी गुणधर्मों और अनन्त शरीरों का जाना आना आदि सम्भव है। इसी नियम से वे विश्व की उत्पत्ति रक्षा और संहार के निमित्त होते हैं। इसी से उन्हें विश्वोत्पत्तिस्थानसंहारहेतो ! कहा है। वे सदा ही प्राणिमात्र के कर्मरूपी जल को अनियन्त्रित बहाव से रोकने के लिए मेड़ का काम करते हैं। इसीसे उन्हें शश्वत्सर्वप्राणिकर्माम्बुसेतो ! कहा है।

नित्यानन्तासंख्यदीव्यद्गुणाब्धे !
कारुण्याब्धे ! क्षान्तिसौशील्यवार्धे !
जीवानुद्धर्तुम्भवाब्धिप्रलीनान्
हंसाश्वाद्यैर्नैकरूपैर्विहर्तः !।।२।।

वे भक्तों के रसमय अनुभव में आने वाले नित्य अनन्त गुणों के समुद्र हैं, विशेष कर दया के तथा क्षमा और शील के समुद्र हैं। वे संसाररूपी समुद्र में डूबे जीवों के उद्धार के लिए हंस और हयग्रीव आदि ज्ञानप्रधान बहुत से रूप धारण करके लीलायें करते हैं।

श्रीविष्वक्सेनादिभिः स्वम्पदाब्जं
संसाराब्धौ पोतरूपं निधाय।
तत्साफल्यं द्रष्टुकामोऽनुतीर्थं
तिष्ठन् ! दिव्यार्चावपुर् ! भक्तनिघ्न !।।३।।

सारे चेतनों के प्रति सहज करुणा के फल स्वरूप उद्धार के एकमात्र साधन अपने चरणकमलों को संसार समुद्र में श्रीजी, विष्वक्सेन जी आदि बहुत से सूरियों के माध्यम से आपने स्थापित कर रखा है। उन स्थापनाओं

की सफलता देखने के लिए ही मानो आप विभिन्न तीर्थस्थानों पर दिव्य अर्चा विग्रहों से विराजमान होकर भक्तों की अधीनता में रहते हैं।

मां त्वन्निघ्नं सर्वथा संविधाय
कारुण्येनाशेषदोषातिगेन।
सर्वावस्थादेशकालेषु चित्तं
त्वत्कैङ्कर्यैकप्रसक्तङ्कुरुष्व।।४।।

ऊपर के तीन श्लोकों में प्रभु को बारह रूपों से सम्बोधित करके इस चौथे श्लोक में अपनी प्रार्थना प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि चेतनों के सारे दोषों से बढ़कर काम करने वाली अपनी दया से मुझे पूरी तरह अपने अधीन बनाकर मेरे चित्त को सारी अवस्थाओं में, सारे देशों में और सभी काल में एकमात्र आपकी सेवा में ही आसक्त बना लें।

रोगे शोके विग्रहे वित्तकार्श्ये
संग्रामे वा शत्रुवीर्यातिरेके।
मैत्रीहानौ प्राणहानिप्रसंङ्गे
त्वल्लीलातोऽन्यन्न मे भातु चित्ते।।५।।

विश्व की सारी प्रिय, अप्रिय घटनायें प्रभु की एकमात्र लीलायें हैं, इससे भक्तों को अच्छी ही लगती हैं, लगनी भी चाहिए, इस आशय से कहते हैं कि चाहे कोई भी हो रोग हो या शोक हो, संघर्ष हो या धन की कमी हो, युद्ध हो या शत्रु का बढ़ा बल दिख रहा हो, मित्रता की हानि हो गयी हो या प्राणहानि होने जा रही हो, उक्त सभी प्रकार की घटनायें मेरे चित्त में केवल आपकी लीलायें ही लगा करें।

देहे सुस्थे मित्रबन्धुप्रसादे
मैत्रीसिद्धौ वित्तवृद्धौ समन्तात्।
नित्यं गेहे मंगलानाम्प्रसंगे
निःसंगं स्तात्त्वद्गतम्मेऽन्तरङ्गम्।।६।।

आसक्ति के प्रसंगों में भी मेरा चित्त आप में ही लगा रहे जिससे आसक्ति न हो पाये, इस भाव से कहते हैं कि शरीर के सुखमय होने की स्थिति में मित्रों और बन्धुओं की प्रसन्नता की स्थिति में, नयी मित्रता बनने पर, सब ओर से धन बढ़ने की स्थिति में, घर पर अनुदिन मंगलघटना होते रहने में भी मेरा चित्त उक्त बातों में आसक्त न होकर आप में ही लगा रहे।

जन्मन्यस्मिन्नेव चेदुद्धिधीर्षा
न स्याच्छेषात्कर्मणामुन्मुखानाम्।
जातौ जातौ पुण्डरीकाक्ष ! दृष्टिम्
मा मत्तो व्यावर्तयेराविमोक्षात्।।७।।

शरणागति के क्षण से लेकर मुक्तिलाभ पर्यन्त दया बनी रहे, आगे भी रहे यह प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि इस शरणागति के बाद आप इसी जन्म में मोक्ष दे सकते हैं किन्तु यदि आपके जानते अगले जन्मों का भी इकट्ठा प्रारब्ध हो तो मोक्ष न मिलने की स्थिति में, की हुई इस शरणागति को ध्यान में रखते हुए आगे मेरी ओर से इसके भूल जाने की स्थिति में भी हे कमल के तुल्य अति अभिराम नेत्रवाले भगवन्, जब तक मोक्ष न हो जाये तब तक मुझसे अपनी दयापूर्ण दृष्टि न फेरें। कर्माधीन चेतनों की दृष्टि फिरती है। भगवान् की दृष्टि नित्य होती है, उसके फिरने का कोई प्रसंग नहीं होता। तब तो तुम्हारी मुक्ति अनादि काल से तय थी ऐसा मानना होगा ? उत्तर है कि ऐसा भी माना जा सकता है। प्रभु की दृष्टि में सारी घटनाएँ शाश्वत संकल्प के अधीन होने से पूर्व निर्धारित ही होती हैं।

देहे जातौ बोधसिद्धौ धनाप्तौ
दर्पादन्येषान्तिरस्कारवृत्तेः।
पूर्वन्दर्पं शोधयित्वा सुहृत्त्वाद्
भूतानाम्मां वञ्चयेः स्वापचारात्।।८।।

अपराध देखकर प्रभु दृष्टि फेर सकते हैं अतः अपराधों से वे स्वयं भी विरत रख सकते हैं इस आशय से कहते हैं कि मनुष्य को अपने शरीर पर, जाति पर, ज्ञान पर या धन पर गर्व होता है, उन्हीं में से किसी गर्व के आधार पर वह दूसरे का अनादर करता है। इस सम्भावना पर कहते हैं कि भगवन्! आप प्राणिमात्र के सुहृद (शुभचिन्तक) हैं इससे उक्त किसी भी दर्प की मनोवृत्ति बनने से पहले ही यथार्थ बोध प्रस्तुत कर उसे रोक देंगे जिससे किसी का अनादर न हो पाये, मैं सदा आपके प्रति अपराधों से बचा रहूँ। किसी भी प्राणी को दुखाना प्रभु का अपराध है।

निर्मोहानान्तत्त्वधीशेवधीना–
न्त्वत्पादाब्जद्वन्द्वरुद्धान्तराणाम्।

त्वामेवाप्तुन्त्वामुपायं श्रितानाम्
पेयं नित्यम्पादपाथः प्रदद्याः।।६।।

भागवतों की सेवा होती रहे यह प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि जिन्हें देहादि के प्रति मोह नहीं है, जो तत्त्वबोध के भण्डार हैं, जिनका चित्त आपके चरणकमलों में ही लगा रहता है, जो केवल आपको ही पाना चाहते हैं और प्राप्ति का उपाय केवल आपको मानते हैं उनके चरणोदक पीने के लिए आप नित्य उपलब्ध कराते रहें।

माया कायाद्याकृतिः सर्वदा मे
त्वत्तो वैमुख्यं हठादादधाना।
व्यामोहं स्वे दुस्तरे विस्तरे यत्
कुर्वन्त्यास्ते मत्क्षिणुष्व क्षमस्व।।१०।।

माया, अज्ञान फैलाती है, उससे आप ही रक्षा कर सकते हैं, यह मानते हुए कहते हैं कि देह इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि स्थूल सूक्ष्म रूप धारण करती हुई आपकी माया मेरे चित्त को अपने सहज बल से आपसे विपरीत रखती हुई अपने वृथा विस्तार में आसक्ति बनाती रहती है। यह सब मेरे कर्मों से होता है, आप संसार वर्धक मेरे उन कर्मों को जो वास्तव में आपके प्रति अपराध हैं, कृपा से क्षमा करके माया के कपट व्यापारों को काट दें।

एवम्प्रातः प्रार्थयन् प्रेष्ठमीशं
कुर्वंस्तत्कैंकर्यधीः प्राप्तकर्म।
ध्यायन्नित्यं सद्गुरोः पादयुग्मं
गच्छेद्विष्णोस्तत्पदं सम्पदञ्च।।११।।

इस प्रकार नित्य प्रातःकाल अतिशय प्रिय भगवान् से प्रार्थना करता हुआ देशकाल अवस्था कुल जाति स्वभाव के द्वारा प्राप्त अनिन्दित कर्मों को प्रभु की सेवा मानता हुआ जो करेगा और अपने सदाचार्य के चरणयुगल का ध्यान किया करेगा वह भगवान् का श्रुतिप्रसिद्ध परम पद प्राप्त करके वहाँ के निरतिशयानन्द का उपभोग करेगा। प्राप्ति से पूर्व के सारे उपाय भी उसे मिल जायेंगे। प्रार्थना में बड़ी शक्ति है।

।। प्रार्थनागुच्छ समाप्त।।

• अथ संकल्पगुच्छः •

सङ्कल्पतो विश्वमिदं ससर्ज विष्णुर्यथापूर्वमकामकोपः।
कारुण्यसिन्धुः परकार्यनिष्ठो भाव्यं सुसङ्कल्पवता सताऽतः।।१।।

सारी उत्तम शिक्षाओं और शुभ कर्मों का प्रधान फल होता है संकल्प। संकल्प ही अपने अनुरूप सारे पुरुषार्थ लाता है। पुरुषार्थपथ का सच्चा साथी संकल्प ही होता है। इससे प्रार्थना के बाद उस संकल्प का निरूपण करते हैं जिसे प्रार्थना से पहले भी होना चाहिए। संकल्प के बिना प्रार्थना विफल होती है। प्रलय काल में यह जगत् शून्य था। न कोई जानने वाला, न जानने योग्य था। उपादान या उपकरण बनने लायक भी कुछ नहीं था जिससे विश्व की सृष्टि होती। उस समय परमात्मा का केवल संकल्प जागरूक था। उन्हें पूर्व सृष्टि दिख रही थी, उपादान, उपकरण, निमित्त सब कुछ न रहते हुए भी उनके संकल्प में सब कुछ था। उन्होंने पहले जैसा ही सब कुछ बनाया। उन्हें कोई कामना नहीं थी न कोई क्रिया का भाव था। सृष्टि उनका सहज स्वभाव है, होती ही रहती है। भक्तजन सृष्टि में हेतु उनकी दया को मानते हैं। सृष्टि में करण कलेकर लाभ होने से चेतन पुरुषार्थ पाते हैं। उन्हें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का लाभ होता है। अन्यथा नहीं होता। महान् पुरुषार्थ मोक्ष तो उनकी महती कृपा से ही मिलता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। चेतनों से वे नाना प्रकार के जाने, अनजाने खेल रचते हैं। भक्तजन उनके खेल को भी कृपा मानते हैं। यदि कोई संसारी चेतन उत्तम संकल्प बनायेगा तो पहले उसमें भी दया का भाव होगा। भक्तिमार्ग में नीचे वालों को ऊपर उठाना चाहेगा, मिल–जुल कर अनुभव बढ़ाना चाहेगा। भक्ति का प्रचार–प्रसार चाहेगा, मुक्ति से भक्ति को अधिक महत्त्व देगा, संसारियों को असंसारी बनाना चाहेगा। यदि भगवान् मिलकर उसे कान में कह दें कि ये लोग मुक्त होने वाले नहीं हैं, इनके चक्कर में न पड़ो, तो झट उनसे प्रार्थना करेगा कि इन्हें इस संसार में ही थोड़ी सी भक्ति मिल जाये, यदि प्रभु ने सुन लिया तो आगे प्रार्थना करेगा कि इस थोड़ी भक्ति के वातावरण में ही, इनके साथ ही मुझे भी इसी संसार में छोड़ दिया जाये। ऐसी प्रार्थना वह दया से ही करेगा। वह भक्ति का भरोसा रखेगा, भगवान् की उक्त सामान्य भविष्यवाणी को भूल जायेगा। भगवान् में अपार दया मालूम होती है, इसीसे मिट–मिट कर भी विश्व की सृष्टि होती रहती है। उत्तम पुरुष अपने में उत्तम संकल्प भरने का संकल्प लेते हैं।

संकल्पमात्रेण हरिर्झषादीन् देहान्विचित्रान्कुतुकी बिभर्ति।
जीवञ्च कञ्चित् समपुण्यपापं संकल्पमात्रेण करोति मुक्तम्।।२।।

वेदों में परमात्मा को सत्यकाम और सत्यसंकल्प कहा है। लोक में हम जानते हैं कि संकल्प के अनुरूप ही काम उत्पन्न होता है और उसका फल मिलता है। इससे परमात्मा के सत्यकाम होने में कारण उनका सत्यसंकल्प ही है। संकल्प की सत्यता ही परमात्मा की पहचान है। संसारी चेतनों के संकल्प बदलते रहते हैं, बदचलन औरतों से प्रेम करने लगते हैं, गूढ़ शत्रु राष्ट्रों को मित्र मानने लगते हैं। फिर कुछ घटनाओं के बाद भाव बदल लेते हैं। परमात्मा में ऐसी कोई बात नहीं होती, उनके सामने कोई भी घटना अप्रत्याशित नहीं होती न अवाञ्छित होती है, कर्मफलव्यवस्था के मुख्य आधार कर्ता चेतनों के अहम् भाव होते हैं। परमात्मा जब मानते हैं कि मैं मछली हूँ तब स्वयं को मछली पाते हैं, इसी तरह कच्छप, वराह, नरसिंह, हंस, हयग्रीव, वामन, विराट्, राम, कृष्ण आदि भी हो जाते हैं। गीता भागवत आदि ग्रन्थों के अनुसार संसारी चेतनों के भी सारे प्रभावी रूप परमात्मा के अवतार हैं। एवं सारे अवतार उनके सत्यसंकल्प के चमत्कार हैं। ये सारे रूप प्रभु क्यों बनाते हैं ? शायद वे इन योनियों में होकर भी स्वयं को असंग पाना चाहते होंगे, इससे भी उन्हें क्या लाभ ? भक्तों को वे कहेंगे कि कहीं भी रह कर स्वयं को असंग मान कर मुक्ति पथपर आगे बढ़ सकते हो। क्या भक्त उनकी कभी मानते हैं ? यह तो उनसे ही पूछना होगा। मुक्ति भी वे किसी को संकल्प मात्र से दे देते हैं। निमित्त मानते हैं पुण्य पापों का तुल्य होना। कर्मसाक्षी सूर्य आदि हैं किन्तु कर्माध्यक्ष वे स्वयं हैं। किसी भी कर्म को अपने संकल्प से किसी ठोस आधार पर दूर तक टाल सकते हैं। किसी भी कर्म को कर्ता के संकल्प के आधार पर फलभोग में आगे या पीछे कर सकते हैं। अन्तर्यामी होने से उनके संकल्पों के स्तर भी वे स्वयं बनाते हैं। किसी भी चेतन को संसार से ऊपर उठाने में उनका ही एकाधिकार है। भक्तों और आचार्यों को वे स्वेच्छा से माध्यम बना लेते हैं। उनका यह एकाधिकार एवं अन्तर्यामित्व ही शरणागति विद्या का मूल है।

संकल्प्य यद्यत्प्रलयादिकाले जीवा निलीना महदन्तराले।
तत्तद्बभूवुः पुनरत्र सर्गे संकल्पसिद्धिर्भगवत्प्रतिज्ञा।।३।।

चेतन का संकल्प भी परमात्मा के संकल्प के समान प्रभावी स्थायी होता है और अनुरूप फल लाता है यह सूचित करते हुए कहते हैं कि पिछली

सृष्टि के अन्त यानी प्रलय के आदि काल में सारे संसारी चेतन स्वयं को और अपने कर्तृत्व अधिकार पुरुषार्थ आदि के सम्बन्ध में जैसा–जैसा संकल्प बना कर अपने अन्तःकरण के मूल महत्तत्त्व में लीन हो गये, अदृश्य एवं अलभ्य जैसी स्थिति में हो गये वे सबके सब इस सृष्टि के आरम्भ में जैसे–जैसे वह बढ़ी वैसे–वैसे ही हो गये। क्योंकि भगवान् जीवों के कर्माधीन सारे संकल्पों को अपने संकल्प के तुल्य ही महत्त्व देते हैं। इसी से उन्हें पूर्व सृष्टि में हुए कर्मों के फल भी अनुरूप अवस्था में मिलते हैं। भगवान् की प्रतिज्ञा है कि चेतन जैसा भी सोचेगा, चाहेगा वैसा ही पायेगा।

सङ्कल्प्य पाठम्बटुकः शयानोद्राग्लब्धबोधःप्रपठन्सुधीः स्यात्।
नान्यस्तथेत्येतदवेत सन्तः सङ्कल्पमूलाःसकलाः पुमर्थाः।।४।।

उपर्युक्त अर्थ को लौकिक दृष्टान्त से समझाते हुए कहते हैं कि कोई विद्यार्थी अपने पाठ्य विषय को पिछली रात में जैसा समझ कर सोता है, सुबह जागने पर वैसा ही बोलने लगता है, याद करता है और योग्य भी हो जाता है। किन्तु पिछली रात में जिसका ध्यान वैसा नहीं बन पाता वह उसके जैसा अनुभव और योग्यता नहीं पाता यह देखा जाता है। सत्पुरुषों को यह समझ में आयेगा कि पिछला अभ्यास प्रगति कराता है। पिछला अभ्यास संकल्प ही होता है। इसीसे मानते हैं कि सारे पुरुषार्थ संकल्प से ही मिलते हैं।

वेदान्तविद्वा नृपनीतिकृद्वा वित्तेश्वरो वाऽपि सुधीः कलावान्।
सङ्कल्प्य पूर्वं यतते फलञ्च प्राप्नोति सआल्पबलानुकूलम्।।५।।

अन्य कतिपय दृष्टान्तों से यह समझाते हैं कि सारे पुरुषार्थ संकल्प के ही अधीन होते हैं। कोई वेदान्त शास्त्र का पण्डित हो या राजनीति का कुशल खिलाड़ी हो, कोई धनपति हो, पण्डित हो या कोई कलाकार हो वह अपने फल के बारे पहले संकल्प बनाता है फिर प्रयत्न करता है तब उसे उसके संकल्प के बल के अनुरूप सिद्धि मिलती है। शिथिल संकल्प वालों को परिणाम शिथिल ही मिलता है। सारी सफलताओं का तारतम्य, संकल्प के तारतम्य के अधीन होता है।

पक्षी च संकल्पत उत्पतिष्णुः संकल्प्य साधुर्विपदां सहिष्णुः।
संकल्पतोऽभून्नृपतिश्च जिष्णुः संकल्पतोऽभूद् भगवान् स विष्णुः।।६।।

तिर्यग् योनियों में भी संकल्प की प्रधानता देखी जाती है। पक्षी शावक

में पैरों से चलने की अपेक्षा पंखों से उड़ने का संकल्प बलवान् होता है, इसीसे वह संकट में अपनी रक्षा के लिए अधूरे पंखों से भी उड़ने का प्रयास करता है। अण्डे से निकलते ही उसे चारे की दिशा का भी भान हो जाता है, इससे बड़े पक्षियों से आगे रहकर वह उसी दिशा को उड़ता है। दिशा का ज्ञान उसे पूर्व जन्म के संस्कारों से होता है। यह वैज्ञानिक खोज है। दृढ़ संकल्प ही पक्षी को गिरने के भय से बचा कर गगन में दूर–दूर तक उड़ाता है। इसी प्रकार पूर्व संस्कार से कोई बचपन से ही साधु हो कर अपना अलग रहन–सहन बना कर प्राकृतिक संकटों का सामना करता रहता है। काम से बचाव और समझौते के उपाय वह आजीवन करता ही रहता है। ऐसे ही कोई नरपति उत्तम संकल्प के बल पर सौ अश्वमेध यज्ञ पूरा करके अत्यन्त दुर्लभ देवराज पद पा लेता है। यहाँ तक कि अत्यन्त विभु द्रव्य परमात्मा भी नाना रूप नियमनों के संकल्पों के द्वारा अणु–अणु में प्रवेश पा जाते हैं। अन्यथा विभु द्रव्य का कहीं आना–जाना सम्भव नहीं होता। नियमन का संकल्प विषयता सम्बन्ध से नियाम्य देश तक ही रहेगा। यह दार्शनिक नियम ही विभु परमात्मा को विष्णुपद दिलाता है। निर्विशेष ब्रह्मवादी इस विषय का उपपादन नहीं कर पायेंगे।

राजासने कोऽप्यभयं निषण्णः शास्ता नृलोकस्य विशृङ्खलस्य।
प्रीत्यास्पदं सर्वजनस्य तत्तु व्युष्टिः सुसङ्कल्परसायनस्य।।७।।

संसार में सबसे महान् कार्य है मानवीय विभिन्न वासनाओं का सामञ्जस्य। यह कार्य दो ही व्यक्ति कर पाते हैं, वेदान्तविद् योगी या प्रजावत्सल राजा। वेदान्त सिद्धान्त मानवमात्र के हित में हैं इससे सबको भातें हैं। विरोधी कतिपय खलों को योगी अपने योगबल से कल्याण पथ पर चला लेता है। योगी सैद्धान्तिक मतभेदों को रोकता है। व्यावहारिक क्षेत्रों में नेतृत्व नरपति करता है। वात्सल्य से वह धर्मसंगत राजनीति पथ पर सबको चलाता है, कतिपय खलों को वह दण्डनीति के दण्ड से सन्मार्ग में रखता है। पारलौकिक लक्ष्यहीन सेक्युलरों से उसका संकल्प अधिक सुदृढ़ होता है। वह उसे शरीर में रसायन जैसा बल चित्त में देता है। इसीसे उसका आत्मविश्वास सुदृढ़ होता है और प्रजा उससे समान रूप से प्रेम रखती है। आज के घटिया प्रजातन्त्र युग में यह तथ्य एक कल्पना मात्र रह गया है।

मिथ्याव्रणं कोऽपि विधाय देहे मार्गे कणार्थी बहुधा विरौति।
तत्पुण्यहीनस्य जनस्य हीनः सङ्कल्प एवं जननं हिनस्ति।।८।।

क्षुद्र संकल्प मानव को अति क्षुद्र भी बना देता है इससे कल्याणकामी अपने संकल्प की समीक्षा करते रहते हैं। देखा जाता है कि जहाँ भिक्षा के दाने ज्यादा गिरते हैं वहाँ उन दानों के लिए कोई अपने शरीर पर बनावटी घाव बनाकर दिखावटी दर्द से काँपता, चिल्लाता रहता है। इससे कुछ दाने मिल जाते हैं किन्तु उस पुण्यहीन के मानव जीवन की बड़ी हानि हो जाती है। एक मजदूर के स्वाभिमानपूर्ण जीवन से भी वह स्वेच्छा से वञ्चित रहता है।

हित्वा वपुः कर्मवशोऽपि जीवः सङ्कल्पतोऽग्रे फलमाप्नुवीत।
स्फीतं विमिश्रं विशदं विनिन्द्यं सर्वं यथा नारदरावणाद्याः।।९।।

प्रारब्ध समाप्त होने पर शरीर छूट जाता है, तब आगे के भोगों के लिए नया शरीर प्रारब्धानुसार जो, मिलता है उसका माध्यम बीज की तरह संकल्प ही होता है। वह संकल्प ही त्रिगुणों के तारतम्य से आगे के सारे उज्ज्वल, मिश्रित, विपुल या निन्दित फलों का माध्यम होता है। उदाहरण के लिए देखें, नारद जी ने सत्संग से पिछले जन्म में ऐसा संकल्प प्राप्त किया कि ब्रह्मा जी की गोद में देवर्षि के रूप में प्रकट हुए। रावण आदि को पिछले जन्मों के वैर से ऐसा संकल्प मिला कि शुरु से भगवान् के विरोधी हुए। उनकी कथा प्रसिद्ध है।

लोके फलं लब्धुमनूनमुच्चं, श्रौतानि चान्यानि समारभन्ते।
कर्माण्यभिज्ञा न फलन्ति तानि, सङ्कल्पशून्यान्ययथाकृतानि।।१०।।

लोक में देखा जाता है कि फल तो पूरा और उत्तम चाहा जाता है किन्तु चाह के अनुरूप संकल्प न बन पाने से शास्त्रीय या लौकिक भी कर्म विधिवत् नहीं हो पाते, इससे कार्यदक्ष कर्ताओं के भी फल अधूरे ही रह जाते हैं।

सत्संगतः पुण्यफलाल्लभन्ते सआल्पमुच्चैः समये सुधीराः।
यत्नेन सिद्धिम्परमां च तस्माल्लोकाश्चतान् देवधिया स्तुवन्ति।।११।।

पिछले पुण्य से सत्संग मिलता है और उससे यथा समय ऊँचा संकल्प बनता है। तब जो भी यत्न होता है उससे उत्तम फल मिलता है, तब दुनियाँ उन्हें देवता मानकर स्तुति करती है। औपचारिक या वास्तविक देवत्व संकल्प से ही मिलता है।

सच्चिन्तया सद्वचनैः सुकृत्यैर्वृथार्थलिप्साविषवर्जनेन।
विशुद्धसङ्कल्पतरुप्ररोहश्चित्ताङ्गणे सर्वफलानि सूते।।१२।।

सत्संग से उत्तम संकल्प बनने का क्रम बतलाते हुए कहते हैं कि मन में अच्छा ही चिन्तन हुआ करे, उत्तम वचनों का ही परिशीलन हो, अच्छे ही कर्म शरीर मन वचनों से हों, एवं व्यर्थ विषयों के ध्यान रूपी विष का त्याग हो तो चित्तरूपी प्रांगण में शुद्ध महान् संकल्प रूपी वृक्ष का अंकुर समय पर सारे अच्छे फल देने लगता है।

यथा यथा शुद्ध्यति चित्तवृत्तिः सङ्कल्पसूर्यश्च तथा चकास्ति।
लोकान्तरस्थञ्च महापुमर्थम्प्रदर्शयन् हस्तगतं करोति।।१३।।

चित्त की वृत्तियाँ जैसे–जैसे निखरती हैं वैसे–वैसे ही चित्तरूपी आकाश में संकल्परूपी सूर्य चमकने लगता है। तब वह दूसरे वैकुण्ठ आदि लोकों में भी मिलने वाले महान् पुरुषार्थ को दिखलाने लगता है। उसका प्रकाश बहुत दूरतक फैलता है। आगे चलकर वही संकल्प उस महान् पुरुषार्थ को हाथ में भी थमा देता है।

ये सत्सङ्गप्रसन्नाशयजवहयिनो दीर्घसंसारमार्गे।
यान्तः सङ्कल्पमुच्चैर्धनजनधिषणातत्त्वधीलक्ष्यमापुः।।
तैर्लेभे सर्वमेव क्रमवशमसमामोदसामर्थ्यसूनान्–
मार्गस्थाद्भक्तिभाजां सुरतरुगुरुतो विष्णुसङ्कल्पवृक्षात्।।१४।।

प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि लम्बे संसार मार्ग पर चलते हुए सारे चेतनों का वाहन उनका चित्त रूपी घोड़ा होता है, सत्संग और शुभ कर्मों से वह जितना ही शुद्ध होता है उतनी ही तेज उसकी चाल होती है। उसके द्वारा चलते–चलते जो लोग भी धन, जन, शास्त्र ज्ञान या तत्त्वबोध सम्बन्धी उत्तम संकल्प बना लेते हैं, वे क्रम से वह सब कुछ पा भी लेते हैं। उन्हें कल्पवृक्ष के गुरु यानी अतिशय उदार भगवान् विष्णु के संकल्प रूपी वृक्ष से वह सब मिलता है। वह वृक्ष भक्तों के मार्ग पर ही होता है। मिलने से पहले उन्हें अनुपम आत्मसन्तुष्टि, आत्मविश्वास और क्षमता प्राप्त होती है। यह सब फल से पहले होने वाले फूल की भाँति होते हैं।

।। संकल्पगुच्छ समाप्त।।

• अथ ध्यानपद्धतिर्गुच्छः •

पृथिव्यां यद् दृष्टम् बहु यदपि चेष्टं गुणमयं,
यदप्राप्यम् प्राप्तं यदपि बहु भुक्तं गतभयम्।
तथा तद्वा यद्यत् त्रिभुवनभवानाम्मिलति तत्,
सुविद्यैर्नादेयं सततमयि हेयम् बहुभयम्।।१।।

भगवान् के ध्यान के लिए प्राकृतिक विषयों से मन हटाने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि इस पृथ्वी पर त्रिगुणात्मक जो भी पदार्थ देखा और बहुत चाहा एवं अप्राप्य भी जो वस्तु प्राप्त की और उसका उपभोग निर्भय होकर किया वह या वैसी अन्य भी जो वस्तु त्रिलोकवासियों को मिलती है वह सब अध्यात्मविद्या निपुणों को नहीं लेनी चाहिए बल्कि सदा उनका वर्जन करना चाहिए, क्योंकि उन प्राकृतिक वस्तुओं की प्राप्ति में स्वरूप की विस्मृति होती है जिससे सारे अनर्थ हुआ करते हैं।

श्रुतं हंसद्वन्द्वं क्वचन तरुनीडे कृतपदं,
चरत्येकोऽतृप्तो न चरति महीयानथ परः।
तमीशानं ज्ञात्वा सपदि बहिरासङ्गविगमात,
तमेवाभिध्यायन् स भवति निवृत्तान्यविषयः।।२।।

वेदों में हंसों के किसी जोड़े का वर्णन है जो किसी वृक्ष के घोंसले में रहते हैं, उनमें एक भूखा है जो चरता रहता है किन्तु दूसरा नहीं चरता फिर भी वह बहुत महान् है। वह सर्वत्र शासन करता है, उसे जान लेने से बाहरी वस्तुओं में आसक्ति मिट जाती है और वह उस महान् तत्त्व का ही ध्यान करता रहता है जिससे कालान्तर में ध्याता ध्येय बन जाता है और बाहरी अर्थ सदा–सदा को छूट जाता है। यहाँ चरने वाला हंस संसारी चेतन है, न चरने वाला परमात्मा है। आनन्दमय होने से दोनों हंस कहलाते हैं। नियाम्य नियामक, सेव्य सेवकभाव एवं प्रभु के शील सौहार्द आदि भक्तिवर्धक गुणों का प्रभाव शाश्वत होने से दोनों परस्पर सखा माने गये हैं। देह वृक्ष है और चेतन का चित्त घोंसला है जहाँ दोनों के होने का पता चलता है।

पदद्वन्द्वं विष्णोर्हरतु सुधियां द्वन्द्वमखिलं
यदालोके द्वन्द्वं नृपतिदुहितृणां समभवत्।
शिरःस्थं यद्वन्धे सति च सुखदम्मोक्षसदृशम्
बली राजा मेने विजितसुरसंघोऽप्यपजये।।३।।

भगवान् विष्णु का वह चरणयुगल उत्तम बुद्धि वाले भक्तों के सारे द्वन्द्वों (सुख–दुःख, शोक, मोह आदि) का हरण करे जिसके दर्शन मात्र से (जरासन्ध के यहाँ कैद) राजकुमारियों में आपसी द्वन्द्व (विवाद) मच गया था एवं सारे देवगणों को जीत चुके राजा बलि ने (भगवान् वामन के द्वारा हुए) बन्धन की स्थिति में एवं उनके द्वारा धोखे से प्राप्त पराजय की स्थिति में भी जिसके अपने सिर पर होने पर उस चरणयुगल से मोक्ष जैसे सुख का अनुभव किया था। द्वन्द्व बढ़ाने वाले वे चरण द्वन्द्व हरण भी करते हैं, बड़ा कष्ट पहुँचाने वाले वे वास्तव में अनिवर्चनीय आनन्द भी देते हैं।

सुधा यत्सूरीणां सकलवसुधायाश्च सुखदा
यतो दृष्टिः स्रष्टुर्विशति सकलं सृज्यविषयम्।
यतो रुद्रः शम्भुर्यतिरपि स विष्णोश्चरणयो–
र्नखानान्तज्ज्योतिर्हरतु भजताम्भ्रान्तिमखिलाम्।।४।।

भगवान् के चरण नखों की कान्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो नित्य मुक्त ज्ञानियों के लिए एवं सारे पृथ्वी वासियों के लिए पूर्ण आनन्द देने वाला अमृत है जिसके माध्यम से विधाता की दृष्टि सृष्टियोग्य सारे जड़ चेतन तत्त्वों को पाती है, जिनके द्वारा रुद्र (रोने रुलाने वाले) शम्भु (मंगलमय) और महायोगी भी बने हैं उन भगवान् विष्णु के चरणनखों की ज्योति भजन करने वालों की सारी भ्रान्तियों का हरण करे।

यदालम्बो लम्बे नवपथि यतां निर्गुणसतां
यतः पन्थाः स्फीतो भवति न च भीतोऽपि विवलः
यदाहारी तृप्तिम्भजति परमां निर्वृतिमलं
ज्वलच्छान्तं ज्योतिः पदनखजमैशं दिशतु शम्।।५।।

पुनः उन नख प्रकाशों के और प्रभाव बतलाते हुए कहते हैं कि जो लम्बे नये मार्ग पर चल रहे, त्रिगुणों को पार कर चुके, सन्तों का एक ही सहारा है, जिससे मार्ग साफ लगता है, और अपना बल न होने पर भी उस मार्ग का यात्री डरता नहीं है, जिसके सेवन से पूरी तृप्ति होती है परम आनन्द भी मिलता है, जो जलता हुआ भी शान्त है वह ईश्वर के चरण नखों की ज्योति कल्याण प्रदान करे।

नखज्योतिर्ज्योतींष्यखिलभुवनानामुपदिशत्
तमोघ्नद्वाह्यान्तर्दिशतु पदवीं संश्रितवताम्।

स्थिते यस्मिंश्चित्ते भवति भजतां सिद्धिरखिला
जगत्सत्यम्प्रेयो मनसि यदनुन्मेषसमये।।६।।

पुनः उन नखज्योतियों से शरणागतों के हित की अपेक्षा करते हुए कहते हैं कि मनमें जिनके प्रकट होने से पहले तक यह सारा संसार सच्चा और प्यारा लगता है एवं चित्त में जिनके टिक जाने पर भक्तों को सारी सिद्धियाँ मिलने लगती हैं एवं जो बाहरी, भीतरी सारे अज्ञानों का नाश कर रही हैं, विश्व की सारी ज्योतियों को प्रकाश की सही शिक्षा दे रही प्रभु की वह नखज्योतियाँ शरणागतों को सन्मार्ग प्रदर्शित करें।

हरेर्जङ्घे पद्माकरकमलसंस्पर्शसुभगे
गजेन्द्रोद्धारार्थे खगपतिगतेरप्यतिजवे।
सतां जङ्घालत्वं सपदि हरताम्भ्रान्तिरचितं
धरित्र्याधारत्वेऽप्यनुगतजनोद्धारकुशले।।७।।

भगवान् की पिण्डलियाँ (घुटने से नीचे का भाग) जो लक्ष्मी जी के करकमलों के दृढ़ स्पर्श से अधिक मनोरम रहती हैं, जो गजेन्द्र की रक्षा के लिए दौड़ में गरुड़ जी की गति से भी अधिक तेज गति वाली रही हैं, जो पृथ्वी का आधार हैं, फिर भी भक्तों की रक्षा में निपुण हैं वे सन्तों की अज्ञानवश जारी सांसारिक दौड़ धूप की प्रवृत्ति दूर करें, उन्हें यथार्थ का बोध बना दें।

उरू ऊरू धातुर्गरुडहनुमत्स्कन्धविधृतौ
विभूत्यास्यास्थाने कनककशिपोरन्त्यशयने।
लसद्वासश्छन्नाम्बलसुषमयोः स्थानमसमं
समानाम्भक्तानां शमुपनयतां सत्पथि यताम्।।८।।

अनन्त विश्व को धारण करने वाले भगवान् की वह जंघायें जो कभी गरुड़ जी के और कभी हनुमान जी के कन्धों पर टिकती हैं, जो विश्व विभूतियों के ठहरने का स्थान हैं, जो एक बार हिरण्यकशिपु के लिए अन्तिम शय्या बनी थी, रमणीय पीताम्बर से ढकी, बल और सर्वाधिक शोभा का असाधारण स्थान वह उन भक्तों को शान्ति प्रदान करें जो सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों में सदा समभाव रखते हैं। एवं सन्मार्ग पर ही चलते हैं।

हरेः पीतं वासः सहृदयधियामावृतिचयं
क्षयं नीत्वा दत्तां त्रिगुणरहितानन्दमभयम्।

रवौ विद्युद्वृन्दे शशिनि च सुवर्णे सुमचये
यदाभाकोट्यंशः सदृशमुपमानम्मृगयते।।६।।

भगवान् का वह पीताम्बर जिसकी कान्ति का करोड़वाँ भाग सूर्य में, बिजलियों में, चन्द्रमा में, सुवर्ण में और फूलों में अपने अनुरूप उपमान ढूँढ़ रहा है किन्तु नहीं पा रहा वह भावपूर्ण प्रज्ञावानों के ज्ञानावरण अज्ञान समूह को नष्ट करके तीन गुणों से परे भय रहित आनन्द प्रदान करे।

गभीरा सा नाभिर्जयति यमिनां स्थैर्यमतुलं
यतो वेधोवृन्दम्प्रतिपदममन्दं निरयते।
न यल्लेभे ब्रह्मा युगशतसहस्राणि विचरन्
सरोजीये नाले स्वमुदयमनन्तञ्च बुबुधे।।१०।।

भगवान् की वह गहरी नाभि योगियों के चित्त की सर्वाधिक स्थिरता को जीत रही है, उन्हें बरबस अपनी सुन्दरता के प्रति खींच रही है, जहाँ से पद–पद पर तेजी से ब्रह्माओं का समूह निकल रहा है, जिस अपने उद्गम स्थान को पाने के लिए ब्रह्मा जी हजारों लाखों वर्षों तक अपने जन्मवाले कमलनाल पर घूमते रहे पर नहीं पा सके और उसे उन्हें अनन्त मानना पड़ा, उसके सौन्दर्य गाम्भीर्य अनन्तत्व आदि गुणों के क्या कहने हैं।

हरेर्वक्षोऽक्षुब्धं सततकमलासंगसुभगं
द्विजाग्र्यद्रोहाग्निप्रशमनिपुणं दुर्गणकिणम्।
स्वभक्तानां ध्यानादिव सुदृढमाभातु सुधियां
धियां वृत्तौ वृत्तौ द्रुहिणगणनिर्माणनिरतम्।।११।।

भगवान् का वक्षस्थल जो किसी भी अवसर पर क्षोभ या कम्प को प्राप्त नहीं होता, जो लक्ष्मी जी के नित्य निवास से सुन्दर बना हुआ है, जो ब्राह्मण श्रेष्ठ भृगु जैसों के द्रोह रूपी अग्नि को शान्त करने में निपुण है, जिसमें असुरों के प्रहारों से होने वाले घट्ठों की गणना सम्भव नहीं है, जो मानों अपने भक्तों के ध्यान से बहुत दृढ़ हो रहा है, जो सदा ब्रह्माओं का निर्माण करता रहता है, वह विवेकशील योगियों की प्रत्येक चित्तवृत्ति में प्रतिफलित हुआ करे।

भुजास्ते चत्वारोऽखिलमपि पुमर्थम्प्रणमताम्
प्रदातुं सन्नद्धास्त्रिदशपरिषच्छत्रसुहृदः।

द्विषद्वृन्दं चित्तापहमखिलमुन्मूल्य तरसा
श्रितानां शं कर्तुम्प्रहरणजुषः सन्तु जयिनः।।१२।।

भगवान् की वे चारों भुजायें जो प्रार्थी शरणागतों को सारे पुरुषार्थ प्रदान करने में प्रस्तुत रहती हैं, जो देव समूह के ऊपर छत्रच्छाया बनाये रखती हैं, जो चित्त को खींचने वाले सारे शत्रुओं को शीघ्र निर्मूल करके शरणागतों का कल्याण करने के लिए अस्त्रशस्त्र धारण कर रहे हैं वे नित्य विजयी हों।

रवीन्द्वग्निश्रीभिः श्रितममृतवार्धौ कृतपदं
विशालम्पाथोजं निजसुषमया यद्विजयते।
तदेकान्तं शान्तं श्रितहृदयकान्तम्प्रियतरं
द्विषामप्यास्यन्तद् भगवत उपास्यन्दिशतु शम्।।१३।।

सदा ध्यान योग्य भगवान् का वह मुखमण्डल जिसमें सूर्य, चन्द्र और अग्नि की शोभा एक साथ उपलब्ध है, जो अमृत के समुद्र में रहा करता है, जो तनिक भी संकुचित नहीं बल्कि विशाल है, जो अपनी श्रेष्ठ शोभा से कमल को जीत रहा है, जो नित्य ही शान्त रहता है, जो शरणागतों के हृदय के लिए प्रिय है, जो शत्रुओं को भी बहुत ही प्यारा लगता है, वह सबका कल्याण करे।

अनन्तब्रह्माण्डस्थितिहरणसंसृष्टिविषया
मनीषा यत्राब्धौ विलयमयतेऽसौ श्रुतिगतः।
निजानन्दों भूम्नः फलति ललिते यत्र महिते
स भालः स्तात्कालो जटिलभवजालस्य भजताम्।।१४।।

भगवान् का वह विशाल भाल जो समुद्र जैसा विस्तृत और अगाध है, जिसमें अनन्त ब्रह्माण्डों की रक्षा, ध्वंस और पुनः निर्माण का चिन्तन, लीन रहता है, भूमा पुरुष का वह वेदोक्त आनन्द जिसके रमणीय और विशाल आकार में प्रतिबिम्बित हुआ करता है, भजन कर रहे सन्तों के जटिल भवजाल का काल हो, नाश करे।

कचालीकान्तिः सा कमलनिलयाकान्तमुकुट–
त्विषाम्भूमिर्भूयाद् भवशमनहेतुः शुभधियाम्।
यदेकांशः काष्ण्यं हरिणनयनानां नयनयो–
र्वशीकुर्वत्सत्त्वं त्रिभुवनमजस्रं विजयते।।१५।।

कमलवासिनी लक्ष्मी जी के प्रियतम श्रीमन्नारायण के मुकुट की प्रभाओं का आधार उनके केशपाश की वह कान्ति उत्तम प्रज्ञावाले भक्तों के संसार के शमन का कारण बने जिसकी कालिमा का एक छोटा सा अंश मृगनयनियों के नयनों में रह कर दर्शकों के चित्त को वश में करती हुई तीनों लोकों को नित्य वश में रख रही है।

सिसृक्षा यत्रासीत्प्रथममुदिताऽथो प्रणमतां
जिघृक्षाऽभूद्दीप्ता विगुणरमणेच्छाऽगुणवतः।
दिनेशानां सूतिः प्रशमगुणपूर्तिर्दिविषदां
द्वयी सैका दृष्टिर्जयतु यमिनां दृष्टिमखिलाम्।।१६।।

सिसृक्षा यत्रासीत् ईक्षणरूप संकल्प से तादात्म्य मानकर प्रभु के नयनों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि विश्व सृष्टि की प्रथम इच्छा जहाँ उत्पन्न हुई थी, शरणागतों को अपनाने की इच्छा जहाँ प्रबल हुई थी एवं उस गुणातीत परमात्मा को गुणातीत रमण यानी मोक्षानन्द प्राप्त किये नये मुक्तों के साथ आनन्द लूटने की इच्छा जहाँ हुई थी, जो ब्रह्माण्डों के सूर्यों का उत्पत्ति स्थान है एवं जो देवताओं की प्रशम यानि चित्त वशीकार रूपी गुण की पूर्ति का हेतु है, जो दो होती हुई भी एकाकार स्वभाव से एक है वह दृष्टि योगियों की सारी दृष्टियों, चित्तवृत्तियों को अपने वश में करे।

दृशा नित्यम्पेयम्फणिपतिमुखैर्नित्यसखिभि–
र्विधीशाद्यैर्ध्येयम्प्रगुणमतिभिर्यत्नशतकैः।
सतां वाग्भिर्नेयम्परम महसो वाचि नियतं
स्मितं नोऽस्याद् हेयं सकलमपि चित्ते कृतपदम्।।१७।।

महान् तेजःस्वरूप परमात्मा के मुख में विराजमान वह मुस्कान हमारे हृदय में बैठे वर्जनीय सारे अर्थों को दूर करे जो शेष गरुड़ आदि नित्य सेवकों की दृष्टि के द्वारा सदा ही पिया जाता है जिसका ब्रह्मा, शिव आदि देवगण विशुद्ध बुद्धि से बहुत यत्नों से ध्यान करते हैं और अन्य सज्जन अपनी वाणी में ही वर्णन के लिए जिसे ले पाते हैं।

न कल्याणं ध्येयं किमपि भुवने वस्तु सुधियाम्
गुरोः पादद्वन्द्वात्परमिति विदन्तोऽपि मनसा।
धनस्त्रीबन्ध्वादौ वपुषि च निषज्य प्रतिपदं
धियं यामो मार्गे त्रिगुणविषमे क्लेशचरमे।।१८।।

इस संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसका ध्यान करना मंगलकारी हो, यदि ध्यानयोग्य कुछ है तो वह केवल अपने गुरुके दोनों चरण हैं, हम यह जानते हैं फिर भी अपनी बुद्धि को धन, स्त्री, मित्र, परिजन आदि में और अपने शरीर में उलझा कर उसी पुराने मार्ग पर चले जा रहे हैं जो तीन गुणों के कारण सदा विषम है और जिसमें अन्तिम प्राप्य दुःख ही है।

स्मितं ध्यात्वा ध्यात्वा नतजनदयालोर्भगवतो
रजो धूत्वा धूत्वा विशदगुणयुक्ताद् हृदयतः।
गुणैर्दिव्यैस्तस्याखिलहृदयवृत्तीर्नियमतो
निबध्यान्ते यायान्निरतिशयशान्तं हरिपदम्।।१९।।

कोई भी संसारी यदि चाहे तो शरणागतों के प्रति नित्य दयावान् भगवान् की मुस्कान का ध्यान कर करके, हृदय में सत्वगुण की वृद्धि होने से रजोगुण और उसके कार्यों को सदा दूर रखते हुए, भगवान् के कल्याणगुणों के चिन्तन के फलस्वरूप हृदय की सारी वृत्तियों को शौच, सन्तोष आदि नियमों से नियन्त्रित करके आत्यन्तिक शान्तिमय उनके चरणों को प्राप्त कर सकता है।

।। ध्यानपद्धतिगुच्छ समाप्त।।

• अथ मानसार्चापद्धतिः •

तत्रादौ ध्यानम्–

हृदयकमलमध्ये सूर्यशीतांशुवह्नि–
त्रयवलयनिविष्टे शेषभोगे घनाभम्।
हरिमरिजलजासीष्वासकौमोदकीभिः
श्रितमखिलजनन्या सेव्यमानं स्मरामि।।१।।

अपने हृदय कमल के बीच क्रम से एक पर एक सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल और अग्निमण्डल के बीच विराजमान शेषजी के शरीर पर स्थित मेघ के समान श्यामवर्ण चक्र, शंख, खड्ग, धनु और कौमोदकी (गदा) से युक्त, सारे जगत् की माता लक्ष्मी जी के द्वारा सेवित भगवान् विष्णु का मैं ध्यान करता हूँ।

प्रणामः–

सखिभिरविषमेक्षेच्छैरसङ्ख्यैः परीतं
श्रुतिततिमृदुगीतैः स्तूयमानम्प्रपन्नैः।
प्रभुमुभयविभूत्योः साक्षिणं सर्वतत्त्व–
स्थितिपरिणतिहेतुं धर्मसेतुं नमामि।।२।।

प्रभु के अनुरूप ही संकल्प और इच्छा वाले सदा साथ रहने वाले असंख्य सेवकों से घिरे एवं शरणागतों के द्वारा वेद वचन समूहों के मधुर गीतों से जिनका नित्य गान होता रहता है, लीलाविभूति और नित्य विभूति के स्वामी, सारी घटनाओं के साक्षी एवं सारे तत्त्वों की रक्षा और परिणामों के कारणभूत धर्मरक्षक भगवान् को प्रणाम करता हूँ।

स्तुति प्रार्थने–

जगत्स्वामिन् ! नारायण ! शरण ! सर्वस्य जगतः,
प्रपन्नाप्त्युत्कण्ठाविहितशतमूर्ते ! ऽखिलगुरो।
जगद्रक्षाशिक्षानिपुण ! नतरक्षापर ! हरे।
गिरो नम्राकाराः शृणु कुरु यथार्थाः करुणया।।३।।

जगत् के स्वामी, सारे चेतनों के एकमात्र आश्रय, सारे जगत् के रक्षक, शरणागतों को अपनाने के लिए ही सैकड़ों अवतार लेने वाले, सारे, विश्व के मार्गदर्शक, सबकी रक्षा और कर्मफल देने में निपुण, विशेष रूप से शरणागतों के रक्षक, भगवन् ! यद्यपि मैं अन्दर से शीलसम्पन्न नहीं हूँ फिर भी शरणागत की भाँति प्रार्थना कर रहा हूँ। मेरे इन भावशून्य वचनों को सुनकर कृपया भावमय बनालें और मेरी रक्षा करें।

वपुर्वाक्चित्ताद्यैरखिलकरणैरीश ! भवतः,
सपर्या मे नित्यम्भवतु भवदेकाप्तिमनसः।
सुतस्त्रीमित्रारिप्रभृतिषु जड़े वा जगति मे,
नवावस्थालीलाललितचरितो भातु भगवान्।।४।।

भगवन्, मेरे मन में केवल आपकी प्राप्ति की इच्छा बनी रहे, एवं शरीर वाणी और मन आदि सारे करणों से सदा केवल आपकी सेवा हुआ करे। मुझे पुत्र, स्त्री, मित्र और शत्रु आदि में, या जड़ जगत् में बाल लीलाओं से रमणीय चरित्रों वाले भगवान् आप ही दिखाई पड़ें, दूसरी कोई भी प्रतीति न हो।

परव्यूहावस्थे नृहरिमुखरूपाणि भवतो,
नियन्ता जीवानामपि नतजनाकल्पितवपुः।
स्वयं व्यापी नित्यो गुणपरिणतिक्षोभरहितो,
भवान् सर्वावस्थः श्रितजनमनस्तोषफलकः।।५।।

भगवन् ! आप सदा पर अवस्था में रहते हैं, साथ ही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चार व्यूह अवस्थाओं में भी रहते हैं, नरसिंह आदि असंख्य अवतार तो आपके होते ही हैं, इन रूपों के अतिरिक्त आपका एक सर्वान्तर्यामी रूप भी है, जिसके चमत्कार समय–समय पर मिलते हैं, भक्तों के द्वारा स्थापित रूप तो विश्व प्रसिद्ध हैं ही, यह सब होते हुए भी स्वयं सर्वव्यापी, नित्य एवं प्रकृति के सत्त्व आदि गुणों के परिणामों से होने वाली उथल–पुथल के प्रभावों से सदा अछूते रहने वाले आपके उक्त सारे रूप केवल शरणागतों की सन्तुष्टि और प्राप्ति के लिए हैं, यदि वे नहीं होते तो आपके ये रूप भी नहीं होते।

परो नित्यैर्व्यूहो विधिशिवमुखैः सिद्धनिवहै–
र्नृसिंहाद्यो भक्तैः समसमयजैश्चित्तनिलयः।
यतश्वासैर्युक्तैर्नयनविषयोऽचर्चाकृतवपु–
र्मदाद्यैः संसेव्यः सुलभसुलभस्त्वं श्रितवशः।।६।।

प्रभो ! आपका पर वासुदेव रूप नित्य सूरियों के द्वारा सेवित है, वहाँ दूसरों की पहुँच नहीं है, व्यूहरूपों का सेवन ब्रह्मा, शिव आदि सिद्धों के द्वारा होता है। नरसिंह आदि अवतार रूपों का सेवन समसामयिक भक्तों के द्वारा होता है, बाद वाले उन्हें नहीं पा सकते। अन्तर्यामी रूपों का सेवन उन योगियों के द्वारा ही सम्भव है जो देर तक श्वास रोक कर ध्यान जमा लेते हैं, सामान्य लोगों की वहाँ पहुँच नहीं है, और अर्चा मूर्ति रूप से आप हमारे जैसे अति सामान्य चेतनों से भी सेवित हैं। इससे यह मानना पड़ता है कि शरणागत मुमुक्षु चेतन जितनी भी निम्न अवस्था में होते हैं उन्हें पाने, अपनाने के लिए आप उतना ही निम्नरूप धारण कर लेते हैं, उन्हें छोड़ना आप कभी नहीं चाहते।

प्रबोधनम्–

परे लोके सत्यादिषु च विविधैर्वाद्यनिवहैः
श्रुतिस्तोमैः स्तोत्रैः परिजनमुखोत्थैः स्तुतपदः।

प्रबुध्यस्वोद्बुद्धोऽनिशमुदकमेतद्विरजया
प्रदत्तम्पाद्यार्घ्यस्नपनमुखपानादि भवतः।।७।।

पर वैकुण्ठ में आपको जगाने के जो साधन होंगे वह हम कैसे समझें ? इसी तरह धर्म प्रधान सत्य आदि युगों में भी अनेक प्रकार के बाजों के साथ वैदिक मन्त्रों से सेवा परायण भक्तों के द्वारा आपको जगाने के जो उपाय होते होंगे उनकी हम कल्पना ही कर सकते हैं। आप तो सदा प्रबुद्ध ही हैं, आपको जगाने के उपाय तो उपचार की पूर्ति के लिए ही होते हैं, अस्तु आप जैसे भी हो जग जायें और विरजा देवी नदी से आपके पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान आदि और पीने के लिए भेजा गया यह जल स्वीकार करें।

स्नानम्–

पयोभिर्दध्याज्यैर्मधुभिरध च स्नाहि सितया
जलैः शुद्धैश्चैवातिशयशुभवस्त्रेण सखिभिः।

प्रभो ! आप दूध से स्नान करें, दही से स्नान करें, घी से स्नान करें, मधु से स्नान करें, शर्करा से स्नान करें एवं शुद्ध जल से स्नान करें, पश्चात् सेवकों के द्वारा सुन्दर सुगन्धित वस्त्र से शरीर पोंछ कर,

वस्त्रम्–

विशुष्कांगो वासः स्थिरतडिदिव भ्राजदुभयं
ससूत्रं धत्स्वेदं ललितललितांगेष्वभिनवम्।।८।।

अचल विद्युत के समान चमकीले पीले नये अधोवस्त्र और ऊर्ध्व वस्त्र एवं यज्ञोपवीत अपने अतिशय प्रिय विग्रह में धारण करें।

चन्दनं तिलकम्–

चन्दनम्–सुगन्धं काश्मीराञ्चितमलयजालेपमभितो
तिलकम्–ललाटादावूर्ध्वन्तिलकमलकान्तं कुरु हरे।

केसर से मिला सुगन्धित मलय चन्दन सामने के भागों में एवं ललाट आदि भागों में केश पर्यन्त और वैसा ही तिलक धारण करें।

भूषणम्–

शिरःश्रोत्रग्रीवाकरकटिपदांगुल्यवयवे–
ष्वसंख्येयाभूषाचयमजय सन्ध्यारय सुखम्।।९।।

विश्व में कहीं भी कभी पराजित न होने वाले प्रभो ! सिरपर, कानों में, गले में, चारों भुजाओं और हाथों में, कमर में, चरणों में एवं हाथों तथा चरणों की उंगलियों पर असंख्य और सुखमय उन–उन नामों ओर रूपों वाले आभूषण आप धारण करें।

आयुधानि–

अरीणां सन्त्रासावहमरिवशं हेतिनिवहम्
पुरःस्थं संकेतेक्षणमगुण हस्तेषु हृदि वा।

सुदर्शन चक्र के अधीन रहने वाले एवं आपके संकेत पर चलने वाले वे सारे अस्त्रशस्त्र आप हाथों में या हृदय में इच्छानुसार धारण करें जो दूर से ही शत्रुओं को महाभय देते हैं।

मालाः–

यधेच्छं धृत्वाऽथोऽसिततुलसिकागन्धकुसुमैः
कृता मालाः कण्ठे कुरु जलधिजाया अपि सुखाः।।१०।।

इसके बाद श्यामा तुलसी और सुगन्धित फूलों की माला कण्ठ में धारण करें जो श्रीजी को भी अच्छी लगें।

धूपः–

अयन्धूपो गन्धौषधिशतसमेतोऽति सुरभि–
र्धृतो वह्नौ धूमं घनबहुलगन्धं बहु वमन्।
धृतस्तेऽग्रे तेन क्षणजवनिका ते कुतुकिनः
कमप्यर्थं कुर्याद्भवतु मम दग्धो रिपुगणः।।११।।

सुगन्धित बहुत सी ओषधियों से बना यह धूप जो आग पर डालने से घना और फैलने वाला गन्ध दे रहा है व धुवाँ फैला रहा है, आपके समक्ष प्रस्तुत है, इससे पर्दे के शौकीन आपके लिए क्षणभर को पर्दा बन रहा है, इससे आप कोई कार्य कर सकते हैं, सूरियों के अनुभव के अनुसार एक सौ पच्चीस वर्षों की सारी कृष्ण लीला धूप के धुएँ की आड़ में ही हो गयी थी। इस धूप से आपके संकल्प से मेरे सारे शत्रु जल जायें।

दीपः—

रवीन्द्वग्न्युद्भूतेर्भवतु भवतो दीपकलिका—
सहस्रं व्यौम्नीन्दोरिव परिलसंस्तारकगणः।
मदज्ञानध्वान्तम्व्रजतु विलयन्तेन भवतः
पदद्वन्द्वे रक्तम्भवतु हृदयम्माऽवतु भवान्।।१२।।

आपसे ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि उत्पन्न होते हैं, दीप की हजार लौ आपके लिए वैसी ही होगी जैसे आकाश में चन्द्रमा के चारों ओर तारे चमकते हैं। फिर भी दीप से मेरे अज्ञान का अन्धकार दूर हो और आपके चरण युगल में मेरा हृदय अनुरक्त हो और आप मेरी रक्षा करें।

नैवेद्यम्—

अधेदन्द्राक्षाद्यं समसमयनारंगकदली—
मुखं सेव्यं सेवादिकमपिफलन्तेऽस्ति पुरतः।
पयो मध्वाज्याढ्यं क्वधितघनशीतञ्च ससितं
धृतं स्वर्णामत्रे भवदभिमतैरर्पितमिदम्।।१३।।

और यह दाख आदि मेवा एवं ऋतु के अनुसार नारंगी, केला आदि एवं सेव आदि सेवन योग्य फल आपके समक्ष प्रस्तुत हैं, पका हुआ दूध है, इसमें मधु, घृत और शक्कर भी मिला है। पीने योग्य शीतल भी है जो सुवर्ण पात्र में आपके प्रिय भक्तों के द्वारा समर्पित है।

कृतम्भक्तैर्भक्तं शशिसितमसक्तं घृतयुतं
कवोष्णं चन्द्राभे विशदतरपात्रे सुघटितम्।
इयं दाली मुंद्गाढकिचणकनिष्पावघटिता
धृता हिङ्ग्वामोदा मणिरजतपात्रे घृतयुता।।१४।।
इमे शाकाः पाकाः पटलकदलीशिम्बिपनसैः
कृताः कूष्माण्डाद्यैर्विविधदलकन्दैश्च सरसाः।
युताः संस्कारार्थैर्लवणमधुराम्लोत्कटरसा
धृता दीर्घेऽमत्रे भवति सरसैर्लोकविरसैः।।१५।।

भक्तों ने भात बनाया है जो चन्द्रमा के समान उजला है, दाने अलग—अलग हैं, घी पड़ा है, हल्का गर्म है, चन्द्रमा के समान चाँदी की थाली में सजाया

है। यह दाल मूंग अरहर, चना मटर से बनी है, घी मिली है, मणिमय चाँदी के पात्र में रखी है, हींग के गन्ध से भरी है। ये साग पकाये गये हैं, परवल, केला, सेम, कटहल, काशीफल एवं अनेक पत्रशाकों तथा कन्दशाकों से बने हैं, बड़े ही रसीले हैं, कुछ नमकीन कुछ मीठे, कुछ खट्टे भी हैं। इन्हें उन भक्तों ने बड़े पात्र में सजाया है जो आपके प्रति अनुरागी और संसार के प्रति विरक्त हैं।

सुपक्वेयम्पूरी वटकमधुरापूपसहिता
तथा मिष्टान्नानां शतकमिदमद्यैव रचितम्।
सुवर्णे सत्पात्रे धृतमनुपमामोदभरितं
कृतम्भक्तैः प्रीत्या भवदभिमतं स्तात्प्रतिपदम्।।१६।।

यह ठीक तली पूरी है, बड़ा है, विशेष मीठा पूआ है, ये सैकड़ों मिठाइयाँ हैं जो आज की ही बनी ताजा है। सोने के सुन्दर पात्र में सजायी गई है तथा बहुत सुगन्धित हैं। आपके भक्तों ने यह सब प्रेम पूर्वक प्रस्तुत किया है, अवश्य आपको सदा अच्छा लगेगा।

जलम्—

सुवर्णामत्रस्थन्त्रिदिवसरितस्तोयममलं
सुशीतंकर्पूरप्रभृतिशुभगन्धैः कृतगुणम्।
गुणातीतस्येदम्भवतु भवतो हृद्यमखिलं
श्रितानां सन्तुष्टयै सकलमिदमादेहि भगवन्!।।१७।।

सोने के गडुवा में देवनदी का यह निर्मल शीतल कर्पूर आदि सुगन्ध द्रव्यों से सुवासित जल आपको अच्छा लगेगा, यद्यपि आप गुणातीत हैं आपको प्राकृत किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है फिर भी शरणागतों की सन्तुष्टि के लिए प्रस्तुत सब कुछ दया से स्वीकार करें।

प्रार्थना—

अनन्तब्रह्माण्डस्थितनृसुरतिर्यक्प्रभिदया
स्थितानां जीवानामुचिततमभोगानविरतम्।
ददानस्त्रैगुण्यप्रविरहितभोगस्त्वमखिलम्
मया दत्तं स्नेहात्कुरुमुखगतं संश्रितवशः।।१८।।

प्रभो ! आपके ब्रह्माण्डों की संख्या अज्ञात है। उनमें रहने वाले प्राणी देव, असुर, मनुष्य, तिर्यग् भेद से असंख्य प्रकारों के हैं, उनके भोग और भी असंख्य हैं, उनके अनुरूप भोग सदा ही समय पर आप उपलब्ध कराते रहते हैं। आप स्वयं गुणातीत हैं, आपके भोग भी गुणों से परे हैं, मेरे द्वारा कल्पित भोग आपके कभी नहीं हो सकते। फिर भी आप शरणागतों के वशीभूत होते हैं, ये भोग शरणागतों के द्वारा ही प्रस्तुत हैं। अतः आप स्नेह का ध्यान रखते हुए इन्हें मुख में लें और अन्य भोग भी यथोचित अंगीकार करें।

शुद्धिजलम्–

अथेदं गंगाम्भो मुखकरविशुद्ध्यै कलशतः
क्षरन्मद्धस्ताभ्यां स्वकरयुगलेनासकृदलम् !
गृहीत्वा प्रच्छाल्पाचमनमपि कृत्वा विरचितं
सुगन्धन्ताम्बूलद्वितयमिदमास्वादय हरे !।।१६।।

अब यह गंगाजल मुंह और हाथों की शुद्धि के लिए कलश से मैं गिरा रहा हूँ, आप इसे अपने दोनों हाथों से पर्याप्त मात्रा में बार–बार लेकर धोयें और आचमन भी करें। और अब यह बनाया हुआ सुगन्धित ताम्बूल का जोड़ा चर्वण करें।

नीराजनम्–

नीराजनम्भगवतोऽखिललोकभर्तुं–
स्तेजोमयासनगतस्य रमाऽन्वितस्य।
सद्रत्नकाञ्चनमयोज्ज्वलपात्रवर्ति–
वर्तिप्रभाभिरभितोऽहमथाचरामि।।२०।।

अब मैं सारे विश्व के रक्षक लक्ष्मी सहित भगवान् नारायण का नीराजन प्रकाशमान आसन पर स्थित अवस्था में उत्तम रत्न जड़ित सोने के चमकीले पात्र में स्थित बत्तियों के प्रकाश से कर रहा हूँ।

चरणयोः–

पदयुगलमुदारं विश्वसौन्दर्यसारं
सततजलधिकन्यापाणिसंस्कारहारम्।
श्रितभवभयदारं लक्ष्मसौभाग्यकारं
हरतु हृदयमध्यान्मादृशामन्धकारम्।।२१।।

भगवान् के उदार यानी सारे विश्व के लिए समान रूप से सेवनीय, सारे जगत् की सुन्दरता का सार, क्षीर समुद्र की कन्या श्रीजी के करतल के संस्कार प्राप्त कर रहे, शरणागतों के संसारभय का नाश करने वाले, विश्व के अच्छे लक्षणों की उत्तमता लाने वाले, दोनों चरण हमारे जैसे संसारियों के हृदय के मध्य से अन्धकार का हरण करें।

तत्र नाभिवर्णनम्–

कनककपिशवासोरत्नमालाऽन्तराले
नृसुरभुवनभागं कुर्वती देवनाभिः।
विधिगणितपरीक्षाऽश्मेव नीलाऽब्जसूति–
र्जयति नतजनांहो निह्नवाकारमूर्तिः।।२२।।

जिसके नीचे सोने के समान पीला वस्त्र और ऊपर रत्नों की माला है वह प्रभु की नाभि नरलोक और सुरलोक का विभाग कर रही है, वह गहरी नीली है, मानों ब्रह्मा के गणित की जाँच के लिए कसौटी हो, जो ब्रह्माओं के जन्मस्थान कमलों को जन्म देती है जो अपनी गहरी नीलिमा में मानों शरणागतों के पापों को छिपा लेती है। काले में काला ही नहीं छिपता है, दूसरे रंग भी छिप जाते हैं।

तत्र वक्षोवर्णनम्–

विविधकुसुममालारत्नहाराञ्चितस्यो–
ज्ज्वलमणिगणराजत्कौस्तुभोद्भासितस्य।
सुररिपुशरवारिव्रातशैलस्य विष्णो–
र्जयतु नतजनानाम्मानसं वक्षसः श्रीः।।२३।।

नाना प्रकार के फूलों के और रत्नों के हारों से सुशोभित एवं नाना चमकीले मणियों के बीच अधिक चमकते हुए कौस्तुभ मणि से प्रकाशमान जो भगवान् का वक्षःस्थल है जो असुरों की बाणवृष्टि के लिए पर्वत तुल्य कठोर और निष्कम्प है उसकी कान्ति, शरणागतों के मन को वश में करे, उनके ध्यान में सदा बना रहे।

तत्र मुखवर्णनम्–

अमृतजलधिजातप्रोल्लसत्पुण्डरीक–
द्वयनयनमुदारं निर्जितभ्रूविकारम्।
वदनकमलमीषत्स्मेरमानन्दसिन्धोः
सुतिलकमुकुटं नो दृष्टिचित्तापहारम्।।२४।।

आनन्द के समुद्र भगवान का वह मुखकमल हमारी दृष्टि और चित्त को चुरा रहा है जो अमृत के समुद्र में उत्पन्न विकसित श्वेत कमलों तुल्य दो नेत्रों से सुशोभित है, जो सारे विश्व के लिए उदार भाव व्यक्त कर रहा है जो तनिक भी भौंहों के विकार से युक्त नहीं है, जो थोड़ी मुस्कान से युक्त है जो सुन्दर तिलक पर मुकुट से युक्त है।

तत्र सर्वांगशोभावर्णनम्–

इदमतुलतपस्यासत्फलम्भक्तिभाजां
त्रिगुणविरहितानां चित्तभूर्ज्ञानभाजाम्।
यमनियमपराणां योगिनां सिद्धिहेतु–
र्जयति जयति सर्वप्राणिनां कर्मसेतुः।।२५।।

भगवान् का यह मंगल विग्रह भक्तिमार्गियों की सबसे बड़ी तपस्या का महान् फल है, यही गुणातीत ज्ञानमार्गियों के चित्त में लक्षित होता है। और यमनियमपरायण योगी जनों की सिद्धि का कारण है एवं यही सारे प्राणियों के कर्मों की सुव्यवस्था करने वाला है।

तत्र स्तुतिः–

जय सुरनरतिर्यक्प्राणिचेतोनियन्त–
र्जय खकशिखिवार्युर्व्यन्नरूपैर्विहर्तः।
विविधगतिविधातः कर्मिणां न्यासिनाञ्चा–
नवधिकसुखदातर्विश्वजेतर्नमस्ते।।२६।।

देवता मानव पशु आदि प्राणियों के चित्त के नियामक प्रभो ! आपकी जय हो। आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि और अन्नों के रूप में विहार करने वाले आपकी जय हो। कर्म मार्गियों और संन्यासियों की बुद्धियों को यथोचित

नाना प्रकार के मार्ग देने वाले एवं सर्वोच्च सुख देने वाले तथा सारे विश्व को सदा वश में रखने वाले आपकी सदा जय हो।

तत्र पुष्पाञ्जलिः–

कमलबकुलजातीमालतीस्वर्णचम्पा–
स्थलसरसिजवेलाकेतकीपारिजातैः।
असमनिजसुगन्धैर्व्याप्नुबद्भिर्दिगन्तान्
सकुसुमतुलसीभिर्देव ! पुष्पोपहारः।।२७।।
सकलरससुगन्धे पादपद्मद्वये ते–
ऽत्यवहितमनसाऽयं दीयते तद्गृहाण।
विषयविरसमन्ते त्वत्सपर्यैकसक्तम्
भवतु मम मनस्तच्छिक्षणार्थं गृहाण।।२८।।

देव ! कमल, बकुल, चमेली, मालती, सुवर्ण चम्पा, स्थल कमल (गुलाब) बेला, केतकी और पारिजात से जो अपने असाधारण विशेष सुगन्धों से दूर–दूर तक दिशाओं को घेर रहे हैं ऐसे फूलों के साथ तुलसीदलों से आपके दोनों चरण कमलों पर बहुत सावधान मनसे यह पुष्पाञ्जलि समर्पित कर रहा हूँ, इसे आप स्वीकार करें। मेरा मन अभी नहीं तो अन्त में भी विषयों प्रति विरक्त और केवल आपकी सेवा में आसक्त हो जाये। इसे वैसा बनाने के लिए यह पुष्पाञ्जलि आप स्वीकार करें।

तत्र प्रणामः–

करचरणशिरोहृद्वाङ्मनोबुद्धिचेतः–
सहितमयमहन्ते पादयोरर्पितोऽस्मि।
भवदभिमतसद्भिश्चार्पितोऽयम्पुरैव
स्वमनुचरमिमं संशोध्य दास्ये नियुंक्ष्व।।२९।।

हाथ पैर शिर हृदय वाणी मन बुद्धि और चित्त के साथ यह मैं आपके चरणों पर समर्पित हूँ। आपके प्रिय आचार्यों ने इसे पहले ही समर्पित किया है, यह आपका सेवक है, इसे सुधार कर अपनी सेवा में लगायें।

तत्र तीर्थ प्रसाद स्वीकारः–

श्रीशेषसैन्यपखगेशमुखैर्गृहीतम्
पादाब्जवार्यशुभहारि तथा प्रसादम्।
गृह्णाम्यहन्तदवशिष्टमथास्तुपाद–
द्वन्द्वं हरेः शिरसि मे चरमः पुमर्थः।।३०।।

श्रीशेष जी, श्रीविष्वक्सेन जी, श्रीगरुड़ जी आदि नित्य पार्षदों ने जिस पाप नाशक चरणोदक को तथा प्रसाद को प्राप्त किया है उनके बाद अवशिष्ट अंश को मैं प्राप्त कर रहा हूँ। आगे भगवान् का चरण युगल सदा मेरे सिर पर रहा करे जो कि मेरा सर्वोपरि पुरुषार्थ है।

मानसार्चागुच्छ यह पूरा हुआ विशदार्थ से,
जो पढ़ें वे शान्ति सुख से, युक्त हो परमार्थ से।
ग्रन्थ भी पूरा हुआ पर, बहुत अर्थ समीप हैं,
ढूंढ़ते हैं उन पदों को, जो उन्हीं के दीप हैं।।

काश्यां श्रुत्यन्तचिन्तानियमितकरणाः सम्प्रदायैकनिष्ठाः
श्रीरंगार्याः सुविप्रा व्रतनियमपरा ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाः।
तत्कारुण्याप्तकिञ्चिच्छ्रुतिमतिकणिकस्तत्कृपैकप्रतीक्षो
विष्वक्सेनो न्यभान्त्सीत्कतिपयविषयांस्त्र्यब्धिशून्याक्षिवर्षे।।३१।।

काशी में श्री १००८ रङ्गाचार्यनाम से प्रसिद्ध आजन्म ब्रह्मचारी, कठोर व्रतों और नियमों में रहने वाले एक उत्तम ब्राह्मण थे जो वेदान्त ग्रन्थों के मनन चिन्तन में ही एकाग्रचित्त रहते थे एवं गुरुपरम्परा प्राप्त श्रीसम्प्रदाय में एकमात्र निष्ठावान् थे। उनकी केवल कृपा की प्रतीक्षा रखने वाले, उनकी कृपा से ही वैदिक ज्ञान के कुछ कण प्राप्त करके विष्वक्सेनाचार्य मैंने ग्रथित सोलह मनोभावों से सम्बन्धित कुछ विषयों को संवत् २०४३ दो हजार तैंतालीस में प्रस्तुत भावकुसुमाञ्जलि नाम से निबद्ध किया।

अथ प्रबन्ध विषयेषु श्लोक संख्याः–

अहन्त्वे गुणाब्जा (१३) ममत्वे तु रुद्रा, (११) स्तथाऽऽदित्य संख्या (१२) मताः सन्निकर्षे। दिशो (१०) दम्भ ईर्ष्यागता बह्नि चन्द्रा (१३) असूयाऽर्कगा (१२) मत्सरे भूमिचन्द्रौ (११)। पुनर्भूमिचन्द्रौ (११) स्थितो वित्तदोषः, समत्वेऽश्वचन्द्राः

(१७) समाधौ दशोक्ता (१०)। अथ श्रद्धया रुद्र (११) पद्यानि विष्णोस्तथा प्रार्थने सैव संख्या (११) निविष्टा। सुसंकल्पगा वेदचन्द्रा (१४) गिरीन्दुस्थितं (१७) ध्यानमन्तः सपर्यासु खाग्ना (३०)। प्रबन्धेऽत्र षट्चन्द्र (१६) भावेषुपद्यैर्गुणव्योम नेत्रांकितः (२०३), सर्वयोगः।।

इस निबन्ध में सोलह मनोभावों का संक्षिप्त निरूपण है। उनमें अहंकार पर तेरह, ममता पर ग्यारह, सन्निकर्ष पर बारह, दम्भ पर दस, ईर्ष्या पर तेरह, असूया पर बारह, मत्सर पर ग्यारह, वित्तदोष पर भी ग्यारह, समता पर सत्रह, समाधान पर दस, श्रद्धा पर ग्यारह, प्रार्थना पर भी ग्यारह, संकल्प पर चौदह, ध्यान पर सत्रह और मानस पूजन पर तीस श्लोक हैं। श्लोकों का सर्वयोग दो सौ तीन है। अनुबन्ध के १७ जोड़ने से २२० दो सौ बीस होते हैं।

◆ ◆ ◆

अनुबन्ध

• परमार्थ प्रतिष्ठानम् •

(अवतारिका)

राष्ट्रिय एकता कायम रखने के लिए एक समान राष्ट्रिय चिन्तन आवश्यक होता है। इसमें कोई सम्प्रदाय भेद भी आड़े नहीं आना चाहिए। भारतवर्ष शुरु से ही आदर्शवादी देश है। यहाँ किसी महान् आदर्श की उपासना सारे लोग करते ही आये हैं। वह महान् आदर्श एक ही है, उसके रूप अनेक हैं। हम मानवी बुद्धि से उसके जितने भी रूप समझ सकते हैं उनसे वे हजार गुना अधिक हैं। इसी से वह अनन्त कहा जाता है। भारतीय सन्तों ने तो यहाँ तक मान लिया है कि विश्व में जितने भी देखे, सुने, समझे जा रहे नाम रूप हैं वे सबके सब उसी के हैं। ऐसा चिन्तन अनादि वेद भी हमें दे रहे हैं।

इन्द्रम् मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

इस सूक्ति में दयामयी श्रुति ने परमात्मा के कुछ नाम और रूप प्रस्तुत किये हैं। इनका विस्तार असंख्य श्लोकों में अनादि आगम ग्रन्थों में है। आगमों की बहुलता देखकर मन भ्रमित होता है। भ्रम से भेद, विरोध, विद्वेष और व्यापक हिंसा भी हो जाती है। आगम प्रधान प्राचीन भारत में यह सब हो चुका है। भ्रान्त मानवता परम मंगल के साधनों से देर तक परम अमंगल प्राप्त करती रही है। भ्रमप्रधान हमारा मन अनन्त जन्मों तक आगम ग्रन्थों में गोता लगा सकता है फिर भी परमात्मा की महिमा के कुछ कणों से अधिक नहीं पा सकता, न उसका भ्रम ही मिट सकता है। इससे उस अनन्त तत्त्व को हम अनन्त वेदों के कतिपय सारभूत वचनों से ही समझें तो शान्ति और

सन्तुष्टि प्राप्त होगी,सन्मार्ग भी प्रकाशित होगा। यही ऋषि–मुनियों, आचार्यों की मान्यता है। उन सारभूत छोटे किन्तु अर्थों से महान् वचनों का संकलन श्रीमद्भागवत में, नारायण वर्म में प्रस्तुत है। उसे भागवत से अति प्राचीन और महाप्रभावी भी सूचित किया गया है। हमारी समाजव्यवस्था के आदि नियामक मनु ने।

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।।

इस वचन से, वेदपथ से बाहर ले जाने वाले आगमों और चिन्तनों को छोड़ देने की सलाह दी है। वास्तव में वेद से बाहर कुछ है ही नहीं किन्तु आगम वाक्यों के कुछ सन्दर्भ सामान्यजनों को भ्रान्ति में डाल देते हैं। सद्गुरु के अभाव में भ्रान्ति फैलती ही है। विरोधी जैसे लगने वाले वाक्यों में शास्त्रीय एकवाक्यता प्रस्तुत करके भेद भाव भ्रान्ति विद्वेष, हिंसा आदि मिटा देना एक सदाचार्य का दायित्व होता है। वह राष्ट्र अभ्युदय प्राप्त करता है जहाँ सदाचार्यों की व्यापक खेती होती है।

अस्तु, परम तत्त्व की अनन्तता समझने के लिए एक उदाहरण लें। जैसे कोई धनपति है। वह खाली चिकनी तख्त पर कौपीन कसे लेटा है, उसके चारों ओर कई ओर लोग उसके अंगों में तेल मालिश कर रहे हैं। हम वहाँ का चित्र ले सकते हैं। किन्तु चित्र में जो कुछ भी आयेगा वह मिथ्या होगा। धनपति का वह कोई व्यावहारिक वेश नहीं होगा। न वह आसन उसके अनुरूप होगा, वह जो सेवा प्राप्त कर रहा होगा वह भी उसकी कोई अच्छी पहचान नहीं होगी। सेवकों की संख्या तो नगण्य होगी ही उसकी पहचान तो थोड़ी उसकी गद्दी पर होगी जहाँ कई करोड़पति उसके मुँह के दो अक्षर सुनने को उसे घेरे बैठे होंगे। उसकी पहचान कुछ बढ़ेगी जब पूर्व पुरुषों द्वारा चलाये जा रहे उसके कारखानों में कई करोड़ मजदूर बिना किसी असन्तोष के अपने परिवार की जीविका चिरकाल से चला रहे देखे सुने जायेंगे। फिर भी परिचय बहुत बाकी ही रह जायेगा उसके उद्योगपति बनने का इतिहास समझे बिना, उद्योगों के पीछे काम कर रहे उसके संकल्प को समझे बिना और लाभांश के विनियोग एवं विनियोग के हेतु संकल्पों की शुद्धि समझे बिना। यदि यह सब बहुत आदर्श मिलें तो भी उसकी कृषिभूमि हो, उद्यान

हो, जन्तु गृह हो, गौशाला हो, अनाथालय, विद्यालय, चिकित्सालय हों तो उनकी अवस्थायें भी उसकी पहचान बनेंगी। फिर उसके सगे सम्बन्धी, स्त्री, पुत्र, मित्र भी उसकी पहचान बनते हैं। फिर यदि वह उद्योगपति उत्तम शिक्षायें भी प्राप्त कर चुका हो तो शिक्षा विषयों में उसकी रुझान भी उसकी एक पहचान बनेगी।

उसके आहार–विहार–व्यवहार भी उसकी आवश्यक पहचान बनते हैं। चिकित्सकों, नीतिज्ञों, मनोविज्ञानियों के ध्यान उन पर ज्यादा जायेंगे। अभी भी उस धनपति का आन्तरिक परिचय बहुत कुछ बाकी रह जायेगा जिसकी पूर्ति अनेक माध्यमों से अनेक मनीषी कर सकते हैं।

जरा सोचिए, उस धनपति को पूरा समझने में कितना समय लगेगा ? कितनी बुद्धि लगेगी ? कितने शास्त्रों का अध्ययन उसे समझने में काम आयेगा ? उत्तर निकालने में आपको संकट होगा। फिर जब आप उसके किसी कारखाने का निरीक्षण कर रहे होंगे उस समय या उसके विद्यालय के छात्रों से बातें कर रहे होंगे उस समय क्या कोई यह सोच पायेगा कि आप किसी धनपति का परिचय ले रहे हैं ? क्या उसके उद्योगों को समझ रहे सारे लोग अपनी समझ को उससे जोड़ते हैं ? जो लोग जोड़ते हैं वे भी अपनी परख की कमजोरी से कम ही समझ पाते हैं। और जो लोग नहीं जोड़ते उनकी प्रज्ञा प्रतिभा का बल चाहे जितना हो वे धनपति तक सोच ही नहीं पाते। लगभग यही बात श्रुति कहती है–

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्।

आप कहेंगे कि यह वचन तो परमात्मा के लिए है, एक सामान्य लौकिक पुरुष पर इसे घटाना कहाँ तक उचित है। चलिए, औचित्य का प्रश्न गीता जी से पूछ लें। भगवान् ने दसवें अध्याय में कहा है–

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं, श्रीमद् ऊर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वम् मम तेजोंऽशसम्भवम्।।

इसका भाव है कि विश्व में जो–जो कुछ महान् है वह उस परम महान् परमात्मा के तेज की एक छोटी सी इकाई है। यदि परमात्मा अनन्त हैं तो उनकी छोटी से छोटी भी इकाई अनन्त ही होगी। यही सूचित करने के लिए

यहाँ तेजस् शब्द का प्रयोग है। चिनगारी चाहे जितनी छोटी हो वह पूरे जंगल को क्षण भर में राख कर सकती है। एक अबला द्रौपदी महाभारत संग्राम की घोर विनाश लीला बन गयी। यज्ञ की अग्नि से उसकी उत्पत्ति को महत्त्व नहीं दिया गया था। वह कालात्मा परमात्मा के संकल्प का एक छोटा बिन्दु थी। वह वास्तव में अन्यायी वीरों की चिताओं की व्यापक ज्वाला थी। कौन जानता है कि ईश्वरीय महान् संकल्प की कौन सी चिनगारी कब कितना फैल जायेगी।

उक्त तेजोंऽश शब्द ध्यान देने योग्य है। गायत्री का ''भर्गस्'' उक्त अर्थ ही दे रहा है। आइये, हम जगत् के निर्माता परमात्मा के उन तेजोमय रूपों के चिन्तन स्मरण और ध्यान से स्वयं को सुरक्षित कर लें जो सब ओर से निर्विवाद और आत्मरक्षा के लिए नित्य अविस्मरणीय हैं।

◆ ◆ ◆

परमार्थ प्रतिष्ठानम्

ज्ञानानन्दमयं देवं, विश्वेशं सकलाश्रयम्।
आदित्यमिव जीवाद्यैः, क्राम्यमाणम् भजामहे।।१।।

सारे विश्व के प्रिय, अनन्त ज्ञान और आनन्द से युक्त, सारे विश्व के स्वामी, नियामक और आधार एवं जैसे सूर्यमण्डल की परिक्रमा गुरु, मंगल, शनि आदि ग्रह सदा करते रहते हैं वैसे जिनकी सेवा में सारा जड़ चेतन जगत् लगा है, हम भी जगत् के उन रचयिता और नियन्ता प्रभु को जाने अनजाने सदा ही अपनी सारी चेष्टाओं से सेवायें देते हुए उनका भजन कर रहे हैं। यह वस्तु निर्देशात्मक मंगल है।।१।।

महातनौ क्षुद्रजीवाः सम्भवन्ति तदूष्मणा।
चिरेण तत्र जीवन्ति, न च जानन्ति तन्मनाक्।।२।।

विश्वात्मा परमात्मा के विराट् शरीर में छोटे–बड़े चराचर सारे जीवों की उत्पत्ति स्थिति रक्षा बतलाते हुए कहते हैं कि जैसे बड़े शरीरों में उनकी गर्मी से छोटे–बड़े बहुत से जन्तु उत्पन्न होते, आहार पाते, सुरक्षित रहते, विचरण करते, जीवन भी बदल लेते हैं फिर भी अपने आश्रय उस शरीर को ठीक से जान नहीं पाते, ऐसे ही–

अनन्तविश्ववपुषि, श्रीशेऽसंख्यातजन्तवः।
जायन्ते सम्प्रलीयन्ते, तच्छक्त्याऽज्ञातभूमयः।।३।।

अनन्त ब्रह्माण्डरूप परमात्मा के शरीर में उनके संकल्पमात्र से, उनकी मायारूप शक्ति से अनन्त जीव उत्पन्न होते जीते, बढ़ते और उसी में लीन हो जाते हैं फिर भी अपने रक्षक, आश्रय, शुभेच्छु उस विश्वात्मा परमात्मा को स्वयं नहीं जान पाते। उस परमतत्त्वको जान पाना उतना ही कठिन है जितना पशु शरीरों में जूं आदि छोटे जन्तुओं के लिये अपने आश्रय उस बड़े शरीर को जान पाना।।३।।

स ईशः स्वदयापूर्वां सृष्टिं तन्वन् सुमेधसः।
उद्दिधीर्षुः श्रुतिपथान् सन्दर्शयति शाश्वतान्।।४।।

वे ईश्वर चूंकि यह सृष्टि अपनी दया से ही चलाते हैं इससे मुक्ति योग्य उत्तम प्रज्ञा वालों का उद्धार चाहते हुए मुक्ति के अनादि मार्गों को अपने वेद वचनों से दिखलाते रहते हैं।।४।।

आत्माऽपि परमात्मेव ज्ञानानन्दमयो महान्।
नित्यः स्वमत्याऽभिज्ञेयः, श्रुत्याऽपि स तथोच्यते।।५।।

दिखलाये जा रहे मार्गों को ही अगले श्लोकों में प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि जीव आत्मा भी परम आत्मा की तरह सहज अनन्त ज्ञान और आनन्द वाला है, महान् और नित्य भी है। वह मानवी बुद्धि से अनुमिति आदि उपायों से जाना जा सकता है। उसे जैसा जानना सम्भव है वैसा ही वह श्रुति के द्वारा भी दृढ़ता के लिए कहा जाता है।।५।।

विवरण–जैसे सूर्यमण्डल से प्रकाश और ऊष्मा के रूप में ऊर्जा बिखरती रहती है वैसे ही आत्मा से स्वाभाविक रूप से अनन्त दूरी तक ज्ञान फैलता रहता है। कर्मबन्धन उस फैलाव को सीमित करते हैं। कर्म जैसे–जैसे सत्संग आदि शुभ साधनों से घटते हैं वैसे–वैसे ही ज्ञान का फैलाव बढ़ता है। इसी से योगी को बहुत दूर की बातें दिखने लगती हैं, इसीसे पूर्व जन्म की बातें कुछ बच्चों को दीखने लगती हैं, इसी से प्रातिभ ज्ञान होता है जो प्रत्यक्ष से भी अधिक प्रमाण होता है, इसीसे आभासात्मक ज्ञान होता है जो प्रायः सत्य ठहरता है, इसी से कभी–कभी कविकल्पना यथार्थ पकड़ लेती है। चेतन का अनन्त ज्ञान विश्व की अनन्तता को नाप सकता है। इसके लिए कर्मबन्धनोंको काटने की और पूर्णरूप से मुक्त होने की आवश्यकता है। इसी से मोक्ष चाहा जाता है। ज्ञान स्वयं ही सुखरूप होता है, इसीसे गणित का कोई सवाल हल होने पर आनन्द मिलता है और छात्र उच्च स्तर का गणितज्ञ हो जाता है। बच्चे नया–नया ज्ञान पाते और हंसते उछलते–कूदते रहते हैं, इससे आनन्द भी आत्मा का सहज स्वभाव है। संसार अवस्था में संकुचित ज्ञान उतना अनुकूल नहीं लगता, इससे अलग आनन्द की कल्पना होती है। प्रत्येक जन्म प्राचीन कर्मवासना और भोगवासना के साथ ही होता है। प्राणियों की गतिविधियों का निकटता से अध्ययन करने से इसका पता चलता है। यह वासना प्रत्येक जीव के पूर्व जीवन का परिचय देता है। इससे आत्मा की नित्यता का अनुमान होता है। चूंकि चेतन का ज्ञान अनन्त विश्व में फैल कर

ही उसका अनुभव पा सकता है इससे एवं परमात्मा के समान ही संकल्प मात्र से बहुत कुछ कर लेने की क्षमता रखता है इससे भी आत्मा महान् है। अति सूक्ष्म शरीर में भी प्रवेश करके उसका नियन्त्रण करता पाया जाता है इससे यह स्वरूप से अणु होता हुआ भी ज्ञान आदि महान् गुणों से महान् है। इस तरह आत्मा का बहुत कुछ परिचय सहज ही मिल जाता है। सत्संग और शास्त्रों के परिशीलन से परिचय दृढ़ होता है। तब मोक्ष मार्ग में प्रगति होती है।

क्षुद्रार्थलिप्सापिहितमहार्थोपायपद्धतिः।
मानवोऽपि महाऽनर्थभरितायात्यधोगतीः।।६।।

यद्यपि चेतन परमात्मा के समान ही अपने सहज गुणों से महान् है किन्तु अपने छोटे कर्मों से इसकी इच्छायें बहुत छोटी हो गयी हैं इससे यह महान् अर्थ पाना सोचता भी नहीं है, इसीसे छोटे अर्थ पाने के छोटे उपायों में ही लगा रहता है। इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। मनु के बताये अभ्युदय के उपाय इसे भाते ही नहीं हैं। यही है पाप संस्कार, इससे उबरने का एक ही उपाय है बड़ों की सेवा।

स्वरूपोपेयाभ्युपायविरोधिपरनिश्चयी।
चेतनो याति संसारवार्धिपारम् मनोजयी।।७।।

बड़ों की सेवा में रह कर मानव स्वयं को क्रम से अधिकाधिक जानने लगता है, फिर वह स्वयं को मिलने योग्य अर्थ की पहचान करने लगता है, पाने के उपाय सीखने लगता है एवं उपाय को बिगाड़ने की बातों से बचना भी जान लेता है। इन अच्छे गुणों को प्राप्त कराने, विकसित कराने, रक्षा कराने एवं कर्मों के फल उचितरूप से उपलब्ध कराने वाले अन्तर्यामी ईश्वर को भी वह श्रवण, मनन आदि उत्तम उपायों से जानने, उनपर श्रद्धा करने और उनके प्रति कुछ कर्तव्य करने की प्रवृत्तियाँ भी बना लेता है। यह सब होते हुए यदि वह अपने मन पर काबू भी पा लेता है तो संसार समुद्र को पार भी कर लेता है। कर्मबन्धनों से छूट कर वह निरतिशय प्रिय प्रभु की नित्य सेवा में रहने लगता है। यही मोक्ष है।।७।।

गुरुः सहायो भवति सन्मार्गे गौरवास्पदे।
हरिः सहायो भवति शुद्धसत्त्वे शुभाऽऽस्पदे।।८।।

जिस पर महान् लोग ही चल पाते हैं ऐसे उत्तम मार्ग पर चलने में गुरु सहायता देते हैं, प्रमाद से बचाते और कर्तव्यों से जोड़ते हैं। इस तरह जब चित्त शुद्ध होकर सत्त्वगुण अर्जित कर लेता है तब वह कल्याण का भागी

बनता है, तब भगवान् उसके चित्त में उत्तम–उत्तम अर्थों का स्फुरण देते रहते हैं जिससे वह परम कल्याणमय मोक्ष पा लेता है।

आत्मानम् परमात्मानं गुणान् सम्बन्धमुत्तमम्।
कार्यम् प्राप्यमविज्ञाय न नयेज्जीवनं क्षयम्।।९।।

उक्त अर्थ को ही दूसरे प्रकार से कहते हैं कि स्वयं को और अपने नियामक ईश्वर को एवं उनसे हमको जोड़ने वाले उनके महान् गुणों को, उनसे अपने अनेक महत्त्व के सम्बन्ध को एवं सम्बन्ध से बनने वाले अपने कर्तव्य को एवं कर्तव्य के फल को समझे बिना इस नाशवान् जीवन को बीतने न दें।।९।।

न जन्म स्ववशं जन्तोर्मृत्युश्चाकस्मिको मतः।
तत् तत्त्वं तरसा ज्ञेयं यतो निःश्रेयसोदयः।।१०।।

उक्त अर्थ का ही निष्कर्ष देते हुए कहते हैं कि किसी भी प्राणी का जन्म अपने अधीन नहीं होता। कोई चाह कर भी अमुक दम्पति से अमुक समय में जन्म नहीं ले सकता। जन्म के बाद मृत्यु भी अचानक आती है। मृत्यु की पूर्व सूचनाओं पर किसी को विश्वास नहीं होता। इससे उचित यही है कि सारे काम छोड़ कर सबसे पहले उस तत्त्व का ज्ञान अर्जित किया जाये जिससे परम कल्याण मोक्ष होता है।।१०।।

भगवानेव सर्वात्मा, ज्ञानानन्दमयोऽमलः
मायायामपि निर्मायो, घोरे ख इव भास्करः।।११।।
निर्भेदोऽनन्तभेदात्मा, नीरसो रसिकेश्वरः।
नित्यश्रीशोऽप्यद्वितीयः सेव्यते लौकिकैः पृथक्।।१२।।

मोक्षदायक शास्त्रीय तत्त्व दो पद्यों में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि दृष्ट अदृष्ट सारी वस्तुओं के रूप में भगवान् ही हैं, जो ज्ञानमय एवं आनन्दमय भी हैं तथा प्रकृति के विकारों से सदा अछूते हैं। वे माया के अन्दर रहते हुए भी उसके प्रभावों से अछूते हैं। जैसे बहुत से खतरों से भरे आकाश में सूर्य। उनमें स्वतः कोई भेद नहीं है पर माया के सारे भेदों के निर्वाहक वे ही है। प्राकृतिक किसी वस्तु में उन्हें अनुराग नहीं है फिर भी भक्तिरस आदि के साधकों के वे स्वामी हैं। वे सदा ही लक्ष्मी जी के स्वामी हैं फिर भी अकेले ही माने जाते हैं। यानी लक्ष्मी जी के सहित ही वे एक माने जाते हैं। अंग से अंगी की संख्या नहीं बढ़ती। इस तरह संसारी लोग उनकी उपासना परस्पर विरोधी जैसे अनेक रूपों के साथ करते हैं।।११,१२।।

शून्यात्मत्वं किलाद्वैतम् मिथ्यात्वं जगतः परे।
केऽप्याहुर्ब्रह्मणो रूपम्महात्मत्वन्तु साधवः।।१३।।
अनात्मकं नास्ति किञ्चित् सर्वमेवेश्वरात्मकम्।
अद्वैतमीश्वरात्मत्वात् सर्वभावेषु युज्यते।।१४।।

उक्त परमार्थ दृष्टि एक अद्वैत दृष्टि है। आत्मकल्याण के लिए अद्वैत चिन्तन बहुत प्रकारों से हुआ है। क्रम से सब समझ लेने से चित्त शुद्धि की स्थिति में वास्तव अद्वैत समझ में आयेगा। कुछ शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध लोग उपलब्ध जगत् की शून्यरूपता को अद्वैत कहते हैं। उनके ऐसे कुछ चिन्तन होते हैं जिससे सब कुछ शून्य (जीरो) मालूम होने लगता है। कुछ बौद्धों ने शून्यता तक बुद्धि न दौड़ाकर युक्तियों से जगत् को मिथ्या ठहराया है। जो वस्तु जब जहाँ जिस रूप में उपलब्ध हो वही उसी समय उस रूप में न रहे यही अद्वैत या मिथ्यात्व है। शंकराचार्य के अनुयायियों ने इस मिथ्यात्व को मानने में बहुत से उपनिषद्, इतिहास, पुराण सन्दर्भ जोड़े हैं। उनका मानना है कि यह अद्वैत तत्त्व वेदों में हैं इससे अनादि है। किन्तु इस पर विवेचन बढ़ने से जगत् के मिथ्यात्व के स्थान पर अधिष्ठानभूत ब्रह्म का सत्य स्वरूप ही अद्वैत लगता है किन्तु यह सारी मिथ्या दृष्टियाँ सन्तों को रुचती नहीं हैं। क्योंकि हम जिस कुँए का पानी हर रोज पिया करें उसे ही जोर–शोर से सूखा कहा करें तो यह बात बुद्धिसंगत नहीं लगती। इससे उन्होंने परमात्मा की उस महानता को अद्वैत माना है जिसे जानने पर यह सारा जगत् बहुत सीमित, परिणामी और अधूरा लगने लगता है। वे परमात्मा की महानता पर ही निष्ठा रखते हैं, उसे ही अद्वैत कहते हैं।।१३, १४।।

अनात्मकं नास्ति किञ्चित्सर्वमेवेश्वरात्मकम्।
अद्वैतमीश्वरात्मत्वात् सर्वभावेषु युज्यते।।१५।।

कुछ सन्तों ने एक और अद्वैत सोचा है जो बड़ा ही व्यावहारिक एवं कल्याणमय लगता है। वे कहते हैं जैसे जंगम जीवों में आत्मा है वैसे वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र आदि स्थावर एवं अचेतन से लगने वाले पदार्थों में भी आत्मा है। इन्हें भी कुछ अनुभव होते हैं। इतना ही नहीं, इन शरीरों में दो–दो आत्मा हैं, जीव और शिव (ईश्वर)। शिव ही सारे चेतनों को उनके अनुरूप शिव (कल्याण) के मार्ग पर कायम रखते हैं। यहाँ तक कि ईंट, पत्थर, ढेला, सूखा काठ आदि में भी वैदिक सृष्टिक्रम के वचनों के अनुसार एवं नाना

पुराण वचनों के अनुसार परमात्मा का अस्तित्व मानना पड़ता है। ऐसी स्थिति में विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका नियामक कोई आत्मा न हो। सारे जड़ चेतन तत्त्वों की यह सात्मकता या ईश्वरमयता ही वास्तविक अद्वैत है। यह अद्वैतभावना ईश्वर के प्रति शीघ्र श्रद्धा भक्ति बढ़ा देती है।

समस्तचिदचित्तत्त्वशेषित्वं श्रीशइष्यते।
शेषत्वादपि भावानामद्वैतं सद्भिरुच्यते।।१६।।

भगवान् के प्रति भक्ति बढ़ाने वाला एक और भी प्रामाणिक अद्वैत सन्तों ने माना है। वे कहते हैं कि विश्व के सारे चेतन अचेतन पदार्थों के स्वामी भगवान् श्रीपति है। इससे अन्य सारे पदार्थ उनके शेष हुए। यानी उनके संकल्प से उनके ही नित्य उपयोग के लिए वे उनके शरीर बने हैं। यह जो भगवान् के प्रति शेषत्व है जो विश्व में सुव्यवस्थित है वही सारे भाव और अभाव पदार्थों का भी आपसी एक सम्बन्ध है जो अद्वैत कहा जाता है। विश्व में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो प्रभु का शेष न हो। ऐसी स्थिति में अपने प्रभु के सम्बन्ध के नाते सर्वत्र हमारी श्रद्धा, प्रीति और अनुराग ही होना चाहिए। दूसरे सारे भाव अज्ञान से होते हैं।।१६।।

सुगतं शंकरं श्रीशम् भजन्तोऽद्वैतमीडिरे।
तर्कप्रमाणगं ग्राह्यन्तदात्यन्तिकसिद्धये।।१७।।

इस प्रकार बुद्ध के, शंकराचार्य के और भगवान् विष्णु के भक्तों ने अनेक प्रकार अद्वैत माने हैं और उसकी बड़ी प्रशंसा भी की है। अब हमें वही अद्वैत मानना चाहिए जो तर्कों ओर प्रमाणों से तालमेल रखता हो। प्रामाणिक अद्वैत से ही तो परम कल्याण प्राप्त हो सकता है।।१७।।

परमार्थप्रतिष्ठानं सकलं संश्रयन् सुधीः।
नानर्थेषु प्रसज्जेत तत्र सज्जेत माधवः।।१८।।

इस परमार्थ प्रतिष्ठान नामक सरल निबन्ध को जो कोई भी मनीषी तर्क प्रमाण कौशल के सहारे पूरा–पूरा समझकर ध्यान में रखेगा वह कभी भी अनर्थ भूत वस्तुओं में लगाव नहीं रखेगा बल्कि भगवान् श्रीमन्नारायण ही उस पर लगाव रखा करेंगे और उसे परम कल्याण तक पहुँचाने की व्यवस्था करते रहेंगे।।१८।।

उगे अद्वैत रवि हिय में, तभी सब द्वैततम भागें।
कटें खुद क्लेश के बन्धन, सुगुण पक्षी मुखर जागें।।
सुजन परमार्थ पथ पर चल, हृदय रखते न कुछ भी छल।
कपट से दूर ही रहना, यही होता बड़ा सम्बल।।
अहं के दोष गिन गिन कर, उन्हें खुद दर किनारे कर,
बढ़े जाते महापथ पर, स्वयं के हो स्वयं भास्कर,
भलें प्रारब्ध से दुर्बल, न होता चित्त चिर निश्चल,
प्रभा को आँख क्यों भूले, कुसाधन हाथ क्यों छू ले,
रहें विश्वास में हरि के, न वश हों वासना अरि के,
स्वयं हरि दौड़ आते हैं, विपद झट काटते करि के।

श्री रंगार्यपदासंकभग्नसंसारवासनः।
विष्वक्सेनोऽतनोदेतत् कृतिनां सुधियां श्रिये।।१६।।

प्रसिद्ध श्री रंगाचार्य के चरणों के प्रति अनुराग से संसार से आस्था टूट चुकने पर विष्वक्सेन मैंने यह निबन्ध पुण्यशील कुशल मनीषियों के अभ्युदय के लिये रचा।१६।।

।। शुभम्।।

◆◆◆

लेखक की प्रकाशित और मुद्रणाधीन अन्य कृतियाँ–

१. **सत्पाथेयं–सत्पथमार्तण्डश्च** – वेदान्त का सूक्ष्म निरूपण संस्कृत पद्यों में विशद हिन्दी भावानुवाद सहित। प्रकाशित।

२. **मानवता की परख** – आजकल मानवता पर अनर्गल–चिन्तन चल रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में मानवता का वास्तवरूप प्रदर्शित करते हुए उसे अपनाने का सुझाव दिया गया है। प्रकाशित।

३. **धर्म और अधर्म (हिन्दी निबन्ध)** – विषय नाम से ही स्पष्ट है। प्रकाशित।

४. **राष्ट्रिय चिन्तन और प्रशिक्षण** – महत्त्वपूर्ण राजनैतिक मौलिक निबन्ध। प्रकाशित।

५. **गीतागंगा** – भगवद्गीता के भावों पर आधारित यह एक मौलिक रचना है। यह गंगा चार धाराओं में बह रही है। वस्तुतः एक नाम के चार ग्रन्थ हैं।

पहली धारा – तीन सौ द्रुतविलम्बित छन्दों में पूरी हुई है। हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित।

दूसरी धारा – तीन सौ स्रग्धरा छन्दों में पूरी हुई है। पहली धारा अध्ययन– रत छात्रों के लिये है और दूसरी प्रौढ़ पण्डितों के लिये। दोनों के विषय अत्यन्त भिन्न हैं। दोनों में समग्र गीता पर चिन्तन है। कहीं गीतार्थों का संक्षेप है, कहीं विस्तार है और कहीं प्रवेश में सुविधा के लिये पृथक् चिन्तन है। दूसरी धारा भी भावानुवाद के साथ छपी है।

तीसरी धारा – हिन्दी में प्रश्नोत्तर के रूप में होगी।

चौथी धारा – भगवद्गीता के विशद भावानुवाद के रूप में होगी। अन्य ग्रन्थों में अनुपलब्ध और अत्यावश्यक भाव इसमें होंगे।

६. **भावकुसुमाञ्जलिः** – इसमें भक्ति स्नेह राग आदि शुभ भावों और मोह ईर्ष्या–द्वेष आदि अशुभ भावों का श्लोकबद्ध व्याख्यात्मक सरस परिचय है। अनुवाद सहित कर–कमलों में प्रस्तुत है।

७. **शीलसाहित्यम्** – ७०० आर्या छन्दों में प्रेरक भावों का संग्रह हिन्दी भावानुवाद सहित छपेगा।